प्रकाशक—
हरनामदास गुप्त,
मालिक—हिन्दी-साहित्य-मण्डल,
बाजार सीताराम, देहली।

प्रथम संस्करण

अक्तूबर १९३३

मुद्रक—
हरनामदास गुप्त,
मालिक—भारत प्रिंटिंग वर्क्स
बाजार सीताराम, देहली।

पूर्वार्द्ध

(१)

कर्तव्य पथ

जिस जाति ने पृथ्वी भर की विजयिनी जाति को जन्म दिया, जिसने जल थल और आकाश में अपनी विजयिनी सेनाओं द्वारा पृथ्वी-तल को रौंद डाला था, जिसके प्रवल प्रताप ने संसार में आतंक उत्पन्न कर दिया था और जो गत ७०० वर्षों से काल-चलों के हाथों कुचली जा रही थी, आज वह जाग रही है। आज उसका प्रभात हो रहा है। उस जाति के सिरपर से अत्याचार की तलवार उतर गयी है। उसमें वह यौवन दीख पड़ने लगा है, जो किसी भी राष्ट्र में शोभा की वस्तु हो सकता है। अव इस नवयुग में प्रवेश करने से प्रथम हमें चाहिये कि हम पाखण्ड के गुलाम न रहें। दिमाग़ी गुलामी को त्यागें और विवेक, उत्साह और साहस से प्रत्येक विषय को विचारें और उस पर अमल करें।

पाखण्ड की जड़ दिमाग़ी गुलामी है। जब कुछ स्वार्थी लोग असंख्य प्रजा को मूर्ख और असहाय इसलिये दना डालते हैं कि उनके स्वार्थों की सिद्धि होगी, तव उस जाति में अन्ध-विश्वास उत्पन्न होता है और यही पाखण्ड की जड़ है।

दिमाग़ी गुलामी पाखण्ड की पुष्टि करती है। जिनके दिमाग़ गुलाम हैं, वे उस अच्छे बुरे कैसे ही काम को विना चूं-चपड़ किये

करने को विवश हैं, जिनके लाभ या उपयोगों को वे न समझते हैं, न उसकी आवश्यकता समझते हैं।

रूढ़ियों और अन्धविश्वासों ने संसार की महान् जातियों का नाश किया है, और विजयिनी हिन्दू जाति को भी कहीं का न रक्खा। अब भी यदि रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के नीचे हमारी गर्दन झुकी रही, तो हमारा सर्वनाश आगामी १० वर्षों में हुआ रक्खा है। और यदि हम साहसपूर्वक अपने दिमाग़ों को स्वतन्त्र कर लें, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर विजय प्राप्त करें, तो आगामी दस वर्षों में हम जगत् की महाशक्तियों से टक्करें लेने योग्य लोहे के पुरुष हो सकते हैं।

यह वह युग है जब विवेक ने ढकोसलों को चीर फाड़ डाला है, यह वह युग है कि समस्त एशिया, जो इन्हीं दोषों में फंस कर गुलामी की शताब्दियाँ काट चुका है, हुंकार भरकर गर्ज रहा है। चीन जागकर उठ खड़ा हो रहा है, तुर्किस्तान ने दिमाग़ी गुलामी को टुकड़े २ कर दिया है। एशिया भर में सामूहिक और व्यक्ति-गत स्वातन्त्र्य की लहरें हिलोरें ले रही हैं। दिमाग़ी गुलामी और पाखण्डों के विध्वंस करने के लिये संसार के महान् गुरु रूस ने साहसपूर्वक अपने को एशियाई घोषित कर दिया है। और इस प्रकार राजनीति और अर्थशास्त्र के पण्डित भली भांति समझ गये हैं, कि आगामी दस वर्षों में दो बातें अवश्य होनी हैं, १—युरोप का सर्वनाश हो जायगा और वह शताब्दियों तक अपने अत्याचारों का फल भोगेगा, २—एशिया पृथ्वी का समर्थ संघ होगा। एशिया की जो जाति दिमागी गुलामी, रूढ़ि, अन्ध-

विश्वास और पाखण्ड में फंसी रहेगी, वह कुचलकर नष्ट कर दी जायगी और नवीन जातियां उनकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होंगी। इसलिये हम हिन्दुओं से पूछते हैं—ऐ हिन्दुओ! क्या तुम हिन्दुस्तान पर अपना राष्ट्रीय अधिकार समझते हो? क्या तुम स्वयं कोई राष्ट्र हो? तब, बताओ तुम्हारी राष्ट्रीयता क्या है? क्या ब्राह्मण तुम्हारे राष्ट्रीय स्तंभ हैं? जो लाखों की संख्या में मूर्ख, आवारे, भिखमंगे, चाकर, रसोइये, पानीहारे, सेवक बने दिन काटते हैं? विद्या और विज्ञान से जिन्हें चिढ़ है? जो पापी, लम्पट, ज्वारी, मूर्ख, शराबी और कुकर्मी होने पर भी प्रत्येक दशा में अपने आपको मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ होना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते हैं। या वे क्षत्रिय-कुल-कलंक तुम्हारे राष्ट्रीय स्तम्भ हैं जो शराबीपने और लुचपने की निर्लज्ज ज़िन्दगी व्यतीत करते और ग़रीब प्रजा के पसीने से हीरे मोती ख़रीद कर वस्त्रों पर टांकते और अभागी प्रजा को झुलसती लुओं में अपने भेड़िये सिपाहियों और कर्मचारियों के भीषण अत्याचारों के सुपुर्द कर शिमले की ठण्डी हवा में अधनंगी मिसों के साथ नाचने में और उनके जूठे प्याले की शराब का एक घूंट पीने में जीवन धन्य समझते हैं? क्या वे वैश्य कुल शिरोमणि तुम्हारे राष्ट्रीय स्तम्भ हैं जो दिन निकलने से प्रथम गंगा में लोट मारते, आँख मीचकर घण्टों गोमुखी में माला गटकते, नंगे होकर मेंडक की भांति उछलकर चौके में भीगी बिल्ली की भांति बैठकर भोजन करते, कीड़े मकौड़ों पर दया करते, उन्हें जिमाते तथा साढ़े ग्यारह नम्बर का तिलक लगाते हैं, जो रेलगाड़ी के सिगनल की भांति चार कोस से ही

दीखता है,परन्तु दूकान में बैठकर झूठ,जुआचोरी, छल, बेईमानी, निर्दयता, कंजूसी, स्वार्थ और सज्जनता को लात मारते, आत्म-गौरव को संखिया देते और धन को ही चचा, ताऊ, दादा मामा, भतीजा, सब समझते हैं?

क्या उन शूद्रों से तुम कुछ आशा कर सकते हो जो धूर्तता, मूर्खता और पशुता में नाक तक डूब गये हैं; जिन्होंने शराबखोरी, हत्या, चोरी, डाकेजनी, राहजनी, व्यभिचार और यथा-सम्भव तमाम प्रकार के अपराधों के घर होकर सैंकड़ों वर्ष से मनुष्यत्व का जीवन भुला दिया है, जो भेड़िये की भांति सदैव मनुष्य का शिकार करने की ताक में रहते हैं?

क्या इस बिखरी हुई समाज का उद्धार इसी भांति पड़े-पड़े हो जायगा? ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपने में ऐंठकर कलावत्तू हो रहे हैं, क्षत्रिय भी अपनी ठुकरास के घोंस में धरती पर पैर नहीं धरते, वैश्यों को अपने नोट और गिन्नियों ने १० बोतल शराब का नशा चढ़ा रखा है। शूद्र बदहवास अलग पड़े हैं।

क्या इसी अवस्था को क़ायम रखकर तुम अपना सङ्गठन कर सकते हो, एक प्रबल महाराष्ट्र बना सकते हो?

भाइयो! खबरदार रहो, इतिहास के पन्नों को उल्टो। देखो कि जातियां किस प्रकार की योग्यता प्राप्त करके पृथ्वी की शक्तियों को विजय किया करती हैं और किस प्रकार की ग़लतियां करके अपना नाश किया करती हैं। क्या तुम इसका उत्तर दे सकते हो कि क्यों मुट्ठी भर मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत को रौंद डाला? करोड़ों मर्दों से भरा हुआ देश किस प्रकार मुट्ठी भर मुस्लिम

आक्रमणकारियों ने कुचल डाला, किस प्रकार चुपचाप लोग लुट गये, क़त्ल हुए, और किस आसानी से मन्दिरों का विध्वंस हुआ; किस आपत्ति-जनक रीति से भारतवर्ष १२ वीं शताब्दि से १५ वीं शताब्दि के अन्त तक लगभग लावारिस माल की भांति पड़ा रहा; और अन्त में मुट्ठी भर सिपाहियों की सहायता से, जो ईरान के शाह से हुमायूं उधार मांग लाया था, महान् भारतवर्ष में प्रबल मुग़ल-साम्राज्य क़ायम हो गया ?

आप चाहे जो कुछ इसका कारण समझें, परन्तु इसका कारण हिन्दुओं का पाखण्ड पूर्ण जीवन और रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से छिन्न-भिन्न अधमरा सामाजिक सङ्गठन था।

क्या हम विचार कर सकते हैं कि किस प्रकार ऐसी गम्भीर सुशील और धर्मात्मा जाति आज इस क़दर पतित हो गयी है ? इस जाति ने उपनिषद्के गम्भीर तत्वोंका आविष्कार किया, जिन्हें पढ़कर एक बार प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपनहार ने कहा था—

'प्रत्येक पद से गहरे, नवीन और उच्च विचार उत्पन्न होते हैं। और सब में उत्कृष्ट पवित्र और सच्चे भाव वर्तमान हैं, भारतीय वायुमण्डल हमें घेरे हुए हैं। और अनुरूप आत्माओं के नवीन विचार भी हमारी ओर हैं, समस्त संसार में मूल पदार्थों को छोड़ कर अन्य विद्याओं का अध्ययन ऐसा लाभकारी और हृदय को उच्च बनाने वाला नहीं है जैसा कि उपनिषदों का। इसने मेरे जीवन को शान्ति दी है और यह मृत्यु के समय भी शान्ति देगा।'

क्या उपनिषद् तत्वों के ज्ञाताओं को ऐसा पतित जीवन शोभा देता है ? धर्म वह वस्तु है, जिससे आत्मा की शुद्धि होती

है, जिससे प्राणियों का उपकार होता है, जिससे जातियों को जीवन दान मिलता है, जिससे मर्यादा और आदर्श की रक्षा होती है। धर्म वह है जो इस लोक और परलोक को मिलाता है।

हजारों तरह के देवताओं को पूजना धर्म नहीं। पीर-पैगम्बरों के पास स्त्रियों को भेजना धर्म नहीं, लम्बे-लम्बे तिलक लगाना भी धर्म नहीं। गोमुखी में हाथ डाल कर भगवान् को बहकाना भी धर्म नहीं, धर्म शिवाले में नहीं, गङ्गा में नहीं, मन्दिर में नहीं, धर्म-पुस्तकों में नहीं, धर्म हृदय के भीतर है।

इसकी कोई पर्वा न करो कि तुम कम पढ़े-लिखे हो। यदि तुम्हारे हृदय में पवित्रता है, यदि तुम सत्य के व्रती हो, जो बात तुम्हारे मन में है, वही ज़बान पर है, वही कर्म में है, तो तुम सत्यवादी हो। यदि तुम अपने नौकरों, बच्चों, स्त्रियों, पड़ोसियों और स्वयं अपने ऊपर दया और प्रेम करते हो, सुखी और सन्तुष्ट रहते हो, वासना के गुलाम नहीं हो, तो तुम धर्मात्मा हो। बड़े-बड़े दान देना धर्म नहीं, वासना का त्याग करना धर्म है।

पाखण्ड वह चीज़ है कि हृदय में कुछ और हो, पर करते कुछ और हो। यह पाखण्ड ही पाप है। तुम्हारे पास एक आसामी रुपया कर्ज़ लेने आया है, मुसीबत का मारा है, यदि तुम भीतर ही भीतर यह देखकर प्रसन्न होते हो कि रुपये का माल दो आने में दे जायगा और ऊपर से उससे सहानुभूति दिखाकर मीठी बातें बनाते हो, तो तुम पाखण्डी हो; यदि दुनिया को दिखाने के लिये तिलक छाप लगाते हो, गङ्गा नहाते हो, सीताराम जपते हो, पर चुपचाप होटल में शराब और कोफ्ते उड़ाते हो तो तुम पाखण्डी हो

मैं कहता हूँ कि तुम में यदि सतोगुण नहीं हो, यदि तुम धर्मात्मा नहीं बन सकते, यदि सत्य को ग्रहण नहीं कर सकते, तो तुम खुल्लमखुल्ला शराब पीओ, व्यभिचार करो, डाके डालो, चोरी करो, जुआ खेलो और जी चाहे जितना पाप करो, मैं अंत तक तुमसे प्रेम करूँगा और तुम्हें मर्द बच्चा समझूंगा।

परन्तु यदि तुम गाय की खाल ओढ़कर समाज को धोखा देते हो, तुम्हारे भीतर कुछ और तथा बाहर कुछ और है, तुम खुल-कर पापी कहलाने का साहस नहीं कर सकते—न पाप को त्यागने योग्य आत्मबल ही तुम्हारे अन्दर है, तुम सब प्रकार की दुर्बल-ताओं के गुलाम हो, सत्य बात को सुनकर कहते हो कि हाँ, सत्य तो है, पर क्या करें मजबूर हैं, तो निस्सन्देह तुम कीड़े-मकोड़े से भी अधिक नगण्य और घृणास्पद हो और मैं चाहूँगा कि जितनी जल्द हो तुम्हारा नाश हो।

हमारे पाप अनगिनित हैं, इतने कि यदि कोई शक्ति पापों के दण्ड देने वाली है, तो हमें ग़ारत हो जाना चाहिये था। हम ग़ारत हुए, मगर पूरे नहीं। हम फिर जीवित हो रहे हैं, परन्तु आत्म-शुद्धि के बिना जीवन क़ायम नहीं रह सकता। बहुत सी जातियां जीवित हुईं, पर जीवित रह न सकीं। इसका कारण आत्म शुद्धि का अभाव है। आज हमारी जाति में जीवन उत्पन्न हो रहा है इस जीवन को पोषित करने के लिये हमें आत्म-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। सब से प्रथम आत्म-शुद्धि का यह लक्षण है कि अपने को निष्पाप बनने के लिये हमें अपने पापों को स्वीकार करना चाहिये।

जिन दो पापों का हमने ऊपर इशारा किया है, उनमें एक पाप यह है कि हमने मनुष्य को मनुष्य के ऊपर स्थान दिया। परमेश्वर की सृष्टि में सब मनुष्य समान हैं। सब का हाड़-मांस, मन, आत्मा, शरीर, स्वभाव, इच्छा, जीवन, भूख, प्यास एक समान हैं। इसका कोई कारण नहीं हो सकता कि कुछ मनुष्य कुदरती तौर पर बहुत बड़े समझ लिये जांय और कुछ बिल्कुल कीड़े मकोड़े नीच। कुछ इने-गिने मनुष्य लाखों मनुष्यों के मानवता के अधिकारों को कुचले चले जांय, यह ऐसा पाप है जो चाहे जैसी भी प्रबल जाति को गारत कर देगा। मनुष्य-मनुष्य का भाई है। वह सामाजिकता के नाते एक समान है। हमने स्वार्थ-वश इस समानता को नष्ट कर दिया। हमने ब्राह्मणों को सर्व-श्रेष्ठ घोषित कर दिया। उनकी सर्व-श्रेष्टता उनकी जन्म-सिद्ध वस्तु बन गयी। वे लुच्चे, लफंगे, कलंकी, व्यभिचारी, पापी, मूर्ख, पतित होने पर भी अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगे। और अछूतों के मानसिक और शारीरिक विकास के हमने सब अधिकार छीन लिये। उन्हें छिपा कर के समाज के अन्धेरे तहखानों में डाल दिया, उन्हें नगर में घुसने की मनाई की, उन्हें पास आने और छूने की मनाही की, उन्हें धर्म-मन्दिरों, कुओं और घाटों पर चढ़ने की मनाही की थी और अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनने तथा विद्या पढ़ने की मनाही की थी। अलबेरूनी ने वेद पढ़ने के अपराध में शूद्रों के सिर ब्राह्मणों को काटते देखा था। तप करने के अपराध में सुना है, राम ने एक शूद्र का सिर काटा था। अच्छे कपड़े पहनने के अपराध में गांवों में अछूतों को पिटते तो हमने स्वयं

देखा है। इस प्रकार ब्राह्मणों ने अपने से नीच समझे जाने वालों पर जुल्म ही नहीं किया, उनके सद्व्यवहारों का ऐसे कमीनेपन से दुरुपयोग किया कि जितनी घृणा की जाय थोड़ी है।

ब्राह्मणों की भांति क्षत्रियों ने अपने से नीचे समझी जाने वाली जातियों पर अत्याचार करने में कसर नहीं रक्खी। आज उस अत्याचार के नमूने राजपूताने के कई क्षत्रिय-कुल-कलङ्क राजाओं में देखने को मिल रहे हैं।

वैश्यों की दशा इससे भी अधिक दयनीय है। तेज और साहस इस जाति से कोसों दूर है, परन्तु स्वार्थ, लिप्सा और क्रूरता की हद नहीं। क्या मजाल किसी गरीब को बिना ब्याज रुपये दे दें। या ब्याज में पाई भी छोड़ दें। उसका परिवार दीन दुखी हो तो भी कुर्की करा लेंगे, पर पाई-पाई वसूल करेंगे। ब्राह्मण के सामने भेड़की भांति जावेंगे और स्वर्गके लिये उनके मुख-गह्वरों से जो मसाला जितना सस्ता मिले झोली में भर लेंगे। पर पुलिसके सिपाही के नाम से फूंक निकल जायगी। जोरूके रूठने पर धरती आस्मान एक कर डालेंगे। ऐसे ही ये वैश्य कुल-पुङ्गव हैं।

शूद्रों का जीवन अपराध और पाप का जीवन बन गया है और वे बल-पूर्वक मानवीय अधिकारों से च्युत किये जाकर पशुओं से भी बदतर हो गये हैं। इस प्रकार मनुष्य के ऊपर मनुष्य का विधान करके हमने अपने समस्त राष्ट्र को मिट्टी में मिला दिया है। हम बर्बाद हो गये हैं। अपने से नीच बना कर हमने कुछ लोगों का ही नाश नहीं किया, हमने अछूतों और शूद्रों को ही कुचल कर नष्ट नहीं किया, अपितु स्वयं भी नष्ट

हो गये हैं। देखो, घमण्डी ब्राह्मणों के पाप का फल भारत में इस छोर से उस छोर तक फल रहा है। वे भूखे, नंगे, भिखारी, दास, मंगते बने, अपमान और तिरस्कार के टुकड़े मांगते खाते देश भर में घूमते फिर रहे हैं। देखो वे मग़रूर क्षत्रिय अपने घमण्ड से स्वयं ही कुचले हुए गुलामी और जिल्लत की जूतियां खा रहे हैं। भाग्यहीन वैश्य करोड़ों रुपये की सम्पत्ति के अधिकारी होने पर भी अपने देश में मानवीय सभ्यता और नागरिकता के सभी अधिकारों से पतित हैं। यदि हम समभाव, भ्रातृ भाव, प्रेम और उदारता का द्वार खोल दें, छोटे बड़े का भेद मन से निकाल दें और गिरों को ऊंचा उठावें, तो आज हमारे सारे कष्ट दूर हो जायँ और हम जिस महान् जाति का निर्माण किया चाहते हैं, वह शीघ्र ही बन जाय।

दूसरा पाप हमने स्त्रियों को अपना गुलाम बना कर किया है। ये स्त्रियां हमारे ही घरों में पैदा होतीं, हमारे ही माता-पिता के खून और मांस से बनतीं, हमारे ही साथ खाती-पीती और बड़ी होती हैं। पर वे जीवन, सामाजिकता और मानवीयता के सभी अधिकारों से रहित हैं। उन्हें न पिता की सम्पत्ति में कुछ अधिकार है, न पति की सम्पत्ति में, उन्हें न अपने पति को पसन्द करने का अधिकार है, न जीवन के आदर्श चुनने का। जब कि हमारे पुत्र स्कूलों, कालेजों में बड़ी २ विद्याएं पढ़ते और संसार के युद्ध में योद्धा बनने की तैयारी करते हैं, तब हमारी पुत्रियां घरों में सुस्त, उपेक्षित भाव से पड़ी हुई जूठे बर्तन मांजती और घर भर के बचे हुए जूठे टुकड़े खाती हैं। जब कि हमारे पुत्र

स्वाधीनता के प्रकाश में छाती फुला कर देश-भक्ति, विज्ञान, साहित्य और कला-कौशल के क्षेत्रों में मस्तिष्क का विकास करते हैं, तब वे बदनसीब किसी नालायक लड़के के सुपुर्द कर दी जाती हैं, इसलिये कि वे इसकी और इसके घर के आदमियों की गुलामी करें, जूतियां, लात और गालियां खायं, उसकी पाशविक-वासना की दासी बनें, कच्ची उम्र में बच्चे जनें, जवानी से पहले ही बुढ़िया हो जायं, और भरी जवानी में मर जायं या विधवा हो जायं। मध्य-काल में हिन्दुओं ने स्त्रियों को मुर्दों के साथ जिन्दा फूंक दिया है और उसे उन्होंने धर्म बताया है॥ ये पाखण्ड और ढकोसलों को धर्म समझने वाले बदनसीब हिन्दू पाप, खून और अपराधों को भी धर्म समझते रहे हैं। जहां पुरुषों के लिये दस, बीस और पचास तक विवाह करने जायज थे, जहां पुरुष अकेला सैकड़ों स्त्रियों को पत्नी बना सकता था, वहां पत्नी को कड़ा पतिव्रत पालने की आज्ञा थी। इन स्वार्थी भेड़िये ग्रन्थकारों ने यहां तक लिखा है कि अन्धा, काना, कुबड़ा, लुच्चा, शराबी, हरामखोर कैसा ही पति हो, स्त्री के लिये देवता के समान पूजनीय है। वही उसका परमेश्वर है। ऐसे पतित पतियों को वेश्या के घर कन्धे पर चढ़ा कर ले जाने के लिये पति व्रताओं की तारीफ की गयी है। तुलसीदास जैसों ने स्त्रियों को ढोल के समान पीटने-योग्य बताया है।

इन सब भयानक पापोंका फल हाथों हाथ आज हिन्दू भोग रहे हैं। उनकी शान बर्बाद हो गयी, उनका वंश नष्ट होगया, उनका गौरव धूलमें मिल गया और उनकी मेधा, प्रतिभा तथा तेज सब कुछ गया।

ब्राह्मणों की सूरतें देखिये; किसी किसी के तेज और सौन्दर्य को देखकर तो तबियत खुश हो जाती है, जैसे अभी भाड़ में से भून कर निकाला गया हो। क्या प्राचीन ग्रन्थों में ब्राह्मण का रूप गौरवर्ण सूर्य के समान तेजस्वी नहीं लिखा है? वह तेज और गोरवर्ण कहाँ है? क्षत्रियों की दुर्दशा देखिये, एक से एक बढ़कर जनानिये। जब ये अठारहवीं सदी की पोशाक पर हीरे-मोती पहनते हैं, तो खासे नाचने वाले रासधारी प्रतीत होते हैं। वैश्यों के रूप रङ्ग पर तो खुदाई नूर बरसता है। वह टेढ़ी तिरछी बदरङ्ग सूरतें देखने को मिलती हैं कि तरवार खींच ली जाय!

इसका कारण क्या है? स्त्रियां जो हमारे बच्चों की माताएं हैं, उन बच्चों की जो हमारे भविष्य महाराष्ट्र की सम्पत्ति हैं, वे जब पतित, अधम, मूर्खा-दासी और पद मर्यादा तथा अधिकार से च्युत हो गयीं, तो क्या वे तेजस्वी-दिग्विजयी पुत्र पैदा कर सकती हैं? क्या देश में आज कौशल्या, देवकी, कुन्ती, मन्दोदरी जैसी माताएं जन्म लेती हैं। हाय! अधम, पाखण्डी और स्वार्थी पुरुष पशुओं ने देश की माताओं को अपनी हविस और पशुवृत्ति का दास बना डाला!! और इस प्रकार देश सुपुत्रों से हीन हो गया! अब स्त्रियां भैंस की भांति घरों में बैठी जुगाली करतीं और पशु की भांति जीती हैं। इसलिये उनके बच्चे मुर्गी और कुत्तों के बच्चों की भाँति गलियों में घूमते-फिरते मिलते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि हमारा कर्तव्य पथ बहुत ही विकट है। हम उस स्थान पर पहुंच गये हैं कि यदि हम कर्तव्य के नाम पर नाजुक से नाजुक जोखिम अपने सिर पर न ले लेंगे,

तो हमारा अति शीघ्र नाश हो जायगा। क्योंकि अब तक जिस हिन्दु संस्कृति ने हमें जीवित रक्खा है—वह इतनी जीर्ण, दोषपूर्ण और अव्यवहारिक हो गई है कि अब वह ठहर नहीं सकती। प्रत्येक संस्कृति के लिये युग आते हैं। युग धर्म के अनुसार महाजातियों की संस्कृतियां बदलती रहती हैं। जो जाति अपनी संस्कृति को युगधर्म के अनुकूल नहीं बना सकती वह देर तक जीवित नहीं रह सकती। हिन्दु जाति ने अपनी संस्कृतियों को समय २ पर बदला है, यद्यपि संसार की सभी जातियों के इतिहास में ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं—परन्तु मूल संस्कृति स्थित रखते हुए केवल आर्थिक परिवर्तन भारत ही में हुए हैं।

आज भारत की स्वामिनी होने योग्य कोई जाति भारत में नहीं है। मुसलमान, ईसाई और अन्य हिन्दु इतर जातियों में से कोई भी जाति भारत की मालिक बनने की अधिकारिणी नहीं। ये सभी जातियां यद्यपि भारतीय हैं, परन्तु भारतीयता से दूर हैं। प्रत्येक मुसलमान अपने को अपने पड़ौसी हिन्दु की अपेक्षा अरब के एक अपरिचित मुसलमान को अधिक सगा समझता है। यही दशा ईसाइयों और अन्य जातियों की है। हिन्दु भी भारत के मूल निवासी नहीं, पर वे उन आर्यों के वंशज हैं जिन्होंने भारत की जातीयता, गौरव और उसकी लोकोत्तर संस्कृति क़ायम की है। इसके सिवा हिन्दुओं का भारत मूल स्थान है। भारत की आज सब से प्राचीन जाति हिन्दु है—और मेरा कहना यह है कि वही वास्तव में भारत की स्वामिनी है। अन्य जातियां उसकी सहयोगिनी होने के योग्य हैं।

परन्तु आज हिन्दु जाति में इतनी योग्यता नहीं कि वह भारत की स्वामिनी वने। किसी भी देश की स्वामिनी वनने के लिये किसी जाति में जो सव से वड़ा गुण होना चाहिये वह राष्ट्रीयता है। हिन्दुओं में राष्ट्रीयता का सर्वथा ही अभाव हो गया है। हिन्दुओं की अपनी कोई भापा नहीं, वङ्गाली, तामिल, मराठी, गुजराती, पञ्जावी आदि सैकड़ों भापाएं वे वोलते हैं। हिन्दुओं का अपना कोई एक वेश नहीं, एक मर्म नहीं, एक जीवन नहीं, एक चिन्ह नहीं, एक लक्ष्य नहीं, एक सङ्गठन नहीं। हिन्दु जाति आज उस माला के समान है जिसमें कभी लोकोत्तर सौरभ-रहा होगा परन्तु आज उसके सारे फूल सूख कर विखर गये हैं और वह मलीन डोरी मात्र रह गई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस जाति की मृत्यु का इतिहास वड़ा रोमाञ्चकारी है परन्तु अव इस सम्वन्ध में शोक करने में कुछ सार नहीं है।

हिन्दु नवयुवकों में आज साहस का उदय हुआ है इसलिये हम हिन्दु जाति से वहुत आशान्वित् हो रहे हैं। यदि नवयुवक साहस कर अपने कर्त्तव्य पथ पर अन्त तक चलें तो उनकी विजय है। इस खण्ड में हम उसी कठिन कर्त्तव्य पथ की विवेचना करेंगे। हम प्रत्येक हिन्दु युवक से कहेंगे, हिन्दुत्व की इस पुरानी इमारत का मोह त्याग दो। इस खण्डहर को ढहादो—इसकी सड़ी हुई वुनियादें भी निकाल डालो और अपनी महाजाति का एक नवीन भव्य महल निर्माण करो जो संसार की महाजातियों के देखने योग्य एक अनोखी चीज़ हो।

(२)

राष्ट्र का नव-निर्माण

मैं सुधारक नहीं, क्रान्तिवादी हूँ। मैं भारतीय राष्ट्र को सुधारना नहीं—उसे विध्वंस करके फिर से उसका नव निर्माण किया चाहता हूँ। भारतीय राष्ट्र में जितना विरोध, जितने खण्ड, जितने दोष और पाप, मैल भरे हैं, उन्हें देखते कोई भी बुद्धिमान इसके सुधार की आशा नहीं कर सकता। स्वामी दयानन्द, राजा राम मोहन राय और अनेक आधुनिक महापुरुषों ने इस उन्नीसवीं शताब्दी में, और इससे प्रथम दूर तक के इतिहास के सिलसिले में, प्रबल सुधारवाद का आयोजन किया; परन्तु फल यही हुआ कि एक नया खण्ड, नया सम्प्रदाय बन गया और दिमागी गुलामी के वातावरण ने उसमें दुर्बलताएँ ला दीं! आर्य-समाज और ब्रह्म-समाज, दादू पन्थ और नानक पन्थ सभी की भावना राष्ट्र में सुधार और नवजीवन उत्पन्न करने की रही, परन्तु ये सभी एक-एक नए पन्थ बन गये और इनमें वे दोष आ ही गए, जो उन कुसंस्कारी पुरुषों के संसर्ग से आने अनिवार्य थे, जो क्षणिक उत्तेजना से इन दलों में मिले तो—पर वे अपने उस पुराने कुसंस्कारों के गुलाम थे—वे अपनी पुरानी बिरादरियों में, पुराने समाज में वैसे ही मिले रहे। इन सम्प्रदायों में और एक सम्प्रदाय की वृद्धि करना हो तो कोई नये सुधार की योजना रक्खे! परन्तु

वह योजना चाहे जितनी कट्टर होगी—समाज का कल्याण न कर सकेगी। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं, एक तरफ़ हिन्दू गो-मांस के नाम से काँपते और गोवध के विरुद्ध आपे से बाहर हो जाते हैं, उधर ईसाई मुसलमान खुल्लमखुल्ला गो-मांस खाते हैं। मुसलमान सुअर के नाम से हद दर्जे तक चिढ़ते हैं; पर सिक्ख खुल्लमखुल्ला सुअर खाते हैं! ईसाई सुअर और गो-मांस दोनों ही से परहेज़ नहीं करते। इस विषय की कट्टरता सैकड़ों वर्ष तक हिन्दू-मुसलमानों के निकट रहने पर भी नहीं मिटी! और हज़ारों वर्ष साथ रहने पर भी कभी न हिन्दू गो-मांस के प्रति उदासीन होंगे न मुसलमान ही! इसी प्रकार मूर्तिपूजा के विरोधी मुसलमानों ने जितना इसका विरोध किया, उतनी कट्टरता उत्पन्न हुई! हिन्दू सम्प्रदाय में भी दादू, नानक, आर्य आदि मत मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, परन्तु उनका परस्पर कुछ भी प्रभाव नहीं। सुधारक हठधर्मी पर प्रभाव नहीं जमा सकता! ईसाइयों और मुसलमानों ने हठ धर्मियों पर बल प्रयोग किया। वह एक क्रान्ति थी—सुधार न था। फल यह हुआ कि ये दोनों सम्प्रदाय संसार में व्याप्त हो गये। बौद्ध धर्म का प्रचार, यद्यपि प्रकट में क्रान्तिकर नहीं समझा जाता, पर वास्तव में उसकी जड़ में मार-काट, अत्याचार और क्रान्ति कम न थी!

यह तो हम अच्छी तरह समझ गए हैं कि वर्तमान हिन्दू-धर्म दिमाग़ी गुलामी का एक जीर्णशीर्ण अस्तित्व है, उसमें अपनी रक्षा की रत्ती भर सामर्थ्य नहीं। आज राजनैतिक आन्दोलन ने जो शक्ति हिन्दू समाज को दी है—वह बात ही दूसरी है।

उस शक्ति के केन्द्र हिन्दू-धर्म की दृष्टि से तो प्रायः क्रोध और तिरस्कार के ही पात्र हैं ! हर हालत में यदि हिन्दूसमाज, जिसे धर्म या कर्तव्य के नाम से मानता है, यदि उसकी पूरी २ परवा की जाय तो, जो राष्ट्रीय प्रगति देश में पैदा हुई है, वह वहीं रुक जाय ! क्या वह हिन्दू मुस्लिम और अल्प-संख्यक भारतीय जातियों के उस निकट-सम्बन्ध को सहन कर सकता है, जो इस आन्दोलन ने पैदा करदिया है और जो दिनदिन निकट होता जा रहा है ? क्या वह स्त्रियों के उस साहस की प्रशंसा कर सकता है, जो वे आश्चर्य-जनक रीति से किसी अज्ञात, दुर्जेय शक्ति के बलपर दिखा रही हैं ? वह तो समाजकल्याण से दूर—एक ऐसी भावना में ओत-प्रोत है, जिसकी सारी ही शक्ति मनुष्य की आत्मा की कल्याण-कामना में लग गई है, और वह भावना भी शुद्ध नहीं, प्रायः भ्रान्त है ! आत्मा की कल्याण-कामना निस्सन्देह एक बहुत सुन्दर वस्तु तो है—परन्तु राष्ट्र और देशके कल्याण का प्रश्न भी असाधारण है ! दर्शन-शास्त्र कहते हैं—"यतो अभ्युदय निःश्रेयससिद्धिस्स धर्मः" जिससे अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है । यह अभ्युदय ही सांसारिक परमस्वार्थ, और निःश्रेयस पारलौकिक परम स्वार्थ है। सांसारिक परमस्वार्थ राष्ट्रीय स्वाधीनता, अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिका समाज में स्वाधीन अधिकार और पारलौकिक परमस्वार्थ आत्मा का सभी बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना यह निःश्रेयस है । यदि मैं कहूँ कि निःश्रेयस से अभ्युदय श्रेष्ठ है तो अनुचित नहीं, यदि श्रीकृष्ण अभ्युदय को निःश्रेयस की अपेक्षा श्रेष्ठ न मानते, तो सम्भव न था कि जगत प्रपञ्च में फँस कर ऐसे लोमहर्षण रक्त पात के

विधायक बनते। क्या कुरुक्षेत्र और प्रभास का हत्याकाण्ड साधारण था? और क्या अकेले श्रीकृष्ण ही उसके पूर्ण रूप से उत्तरदाता नहीं थे? क्यों उन्होंने चुपचाप मुक्तिकी कामना से संसार को त्याग कर समाधि नहीं लगाई? आज भी क्यों महात्मा गान्धी जेल में क़ैदी के रूप में पड़े हैं? इन उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि प्रथम यह लोक और पीछे परलोक है,इसलिये हमें सर्व प्रथम इस लोक के लिये सत्कर्म करने चाहिऐं और पीछे परलोक के लिए!

परन्तु, हमारी एक भयानक भूल तो यह है कि हम जब कभी छोटा बड़ा सत्कर्म करते हैं, वह परलोक के लिये करते हैं, और जो छोटा बड़ा कुकर्म करते हैं, इस लोक के लिए करते हैं! हम दया, सेवा, त्याग, दान, तप, संयम, विवेक आदि का जब कभी उपयोग करेंगे उसका फल परलोक खाते में डालेंगे, पर जब कभी स्वार्थ, छल, पाखण्ड, हत्या, चोरी तथा व्यभिचार आदि दुष्कर्म करेंगे, इस लोक के लिये करेंगे। यदि हम यथासम्भव सत्कर्म इस लोक के लिए करें, तो हमारी बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जाँय। प्रातःकाल हम स्नान करके माला ले,गोमुखी में हाथ डाल, भगवत् स्मरण के लिए बैठते हैं—घण्टे दो घण्टे में जितने पवित्र वाक्य, श्लोक, दोहे, चौपाई पद याद होते हैं सभी रट जाते हैं—यह हमारा सारा काम परलोक में फल देगा, पर वहाँ से उठ कर जब दफ़्तर या दूकान पर आते हैं और कारबार में झूठ, दग़ा, निर्दयता आदि का व्यवहार करते हैं तब किस पाप से जेब कितनी भारी होगी, यही देखते हैं—परलोक को बिलकुल ही भूल जाते हैं! यही तो दिमाग़ी गुलामी है जो हमें सुधार करने में विफल

करती है और जिसके संस्कार मात्र को बिना नष्ट किए हम नव-राष्ट्र की रचना नहीं कर सकते और बिना नवराष्ट्र की रचना किए हम देश को न एक इञ्च बढ़ा सकते हैं और न उसका रत्ती भर भला कर सकते हैं !!

यह बात सच है कि मेरे आक्षेप की प्रधान दृष्टि केवल हिंदू समाज पर ही है, और वह इसलिये कि वही भारत की प्रधान जाति है। उसकी संख्या २२ करोड़ है और उसी के सङ्गठन में बहुत से खण्ड हैं! हिंदू ही राष्ट्रीय नव-निर्माण में सब से बड़ी बाधा हैं। छुआछूत, खानपान, ऊँचनीच, जाति-मर्यादा आदि के भयानक बन्धनों ने हिंदू-जाति को इतना निस्तेज और निर्वीर्य कर रक्खा है कि जब तक उसके ये बन्धन दृढ़तापूर्वक काट न दिए जायं—वह किसी काम की नहीं बन सकती! २२ करोड़ नर-नारियों के समुदाय को इस बंधन में विवश छोड़ कर भारत आगे बढ़ेगा कैसे? यह तो बात विचार में ही नहीं आ सकती !!

हिंदू नवयुवकों ने इस समय उत्क्रान्ति में जो पौरुष प्रयोग किया है वह असाधारण है, परन्तु नवीन नहीं। चीन, जापान, रूस, इटली आदि देशों के नवयुवकों ने भी यही किया है। यह सच है कि हिंदू नवयुवक अभी पीछे हैं—परन्तु उनके बन्धन भी असाधारण हैं। सौभाग्य से उन्हें राजनीति का एक गुरु गान्धी जैसा महान् पुरुष मिल गया है। गांधी का राजनैतिक गुरुपन कर्म-भित्ति पर है, यह बड़े आश्चर्य का विषय है। भारत के लिए यह स्वाभाविक भी है, और इसका फल हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जो नवयुवक महात्मा गांधी के राजनैतिक दीक्षा प्राप्त शिष्य

बनते हैं, वे हिन्दू धर्म की रूढ़ि की गुलामियों से भी साथ-साथ बहुत दूर तक स्वाधीन होते जाते हैं। छुआछूत और ऊंच-नीच के भेद उनसे दूर हो रहे हैं—वे सेवा कार्य और सात्विक जीवन के महत्व पर स्वतन्त्र विचार करने लगे हैं—उनके मन पवित्र, स्वच्छन्द और त्याग की भावना से ओत-प्रोत हो रहे हैं। महात्मा गांधी को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने भारत के युवकों को अपनी आत्मिक और हार्दिक सद्भावनाओं को ऐहिलौकिक कार्यों में—और उन कार्यों में, जिनमें प्रायः उनका स्वार्थ नहीं होता—लगाने की रुचि उत्पन्न कर दी है।

यह बात तो मैं स्वीकार करूंगा कि ऋषि दयानन्द की शिक्षाने विशुद्ध धार्मिक ढङ्ग से स्वतन्त्र विचार करने की रुचि भारत के इन युवकों के पिताओं के मन में पैदा कर दीथो, और इसके साथ ही अङ्गरेजी शिक्षा-पद्धति ने उनके पुराने अन्ध-विश्वासों की जड़ें हिला डालीं थी। अब ये युवक किसी रूढ़ि के गुलाम होंगे, यह मैं आशा नहीं कर सकता। इनमें वीरता, त्याग, स्वावलम्बन और विनम्रता उत्पन्न करने का श्रेय तो महात्मा गांधी ही को है। यह महापुरुष शताब्दियों तक भारत में पूजा जायगा। हिन्दू-धर्म की सात्विक प्रवृत्तियों को इसने उदय किया है। दुर्दम्य क्षोभ के कारणों को प्रकट करके भी इस पुरुष ने युवकों को संयम से युद्ध करने की शिक्षा दी है।

नवराष्ट्र के निर्माण की यह मूल भित्ति है। परन्तु इसमें बाधाओं की कमी नहीं है। आवश्यकता तो यह है कि जब तक भारत स्वाधीन हो, तब तक भारतीय नवराष्ट्र बन जाना चाहिये

यदि ऐसा न हुआ तो समझिए कि राजनैतिक क्रान्ति हिन्दू जाति के शिथिल सङ्गठन को इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालेगी कि जिस का स्मरण करना ही भयानक है !

अलबत्त, मैं यह कह सकता हूँ कि यदि नवराष्ट्र के निर्माण में हिन्दू मुस्तैदी और साहस से जुट जायं और राजनैतिक भाग्य-निर्णय से प्रथम ही नया राष्ट्र बनालें—तो फिर कल्याण ही कल्याण है ! फिर तो न रूस, न जर्मन, न जापान और न इटली ही की क्रान्ति भारतीय क्रान्ति के समान उज्वल हो सकती है !!

यदि हिन्दू समाज अपनी दिमाग़ी ग़ुलामी को तोड़ दे; वह स्वच्छन्द हो जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि मुसलमान और अल्पसंख्यक जातियाँ बड़ी आसानी से उसके अन्दर लीन हो जावेंगी !!

मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि जब तक यह मुख्य कठिनाई दूर नहीं हो जाती, भारत की राजनैतिक स्थिति दृढ़ नहीं हो सकती। जब तक ब्रिटेन का राज्य हो, तब तक तो किसी तरह मामला इसी भाँति चल सकता है; जैसा अब तक चलता रहा—परन्तु जब प्रजासत्ता का प्रश्न आएगा, जब देश का स्वामी देश का जनबल होगा, तब यदि जनबल में राष्ट्रीयता पैदा न हुई तो प्रजासत्ता देश में स्थापित हो ही नहीं सकती। इसके विरुद्ध उस समय देश में ऐसी अशान्ति उत्पन्न हो सकती है जिसे शान्त करने का कोई उपाय ही नहीं है।

मुसलमान, ईसाई और अन्य अल्प-संख्यक गैर-हिन्दू जातियाँ खान-पान और छुआछूत में इसी समय हिन्दुओं से सहयोग

करने को उद्यत हैं। प्रायः सभी हिन्दुओं के हाथ का कच्चा-पक्का खाना खा सकते हैं। इसी प्रकार यदि हिन्दू अपनी कन्याएँ इन जातियों में व्याहने लगें, तो इन जातियों को कुछ उज्र होगा, ऐसी सम्भावना नहीं। उच्च हिन्दुओं में आर्यसमाजी और ब्रह्मसमाजी तथा कुछ स्वतन्त्र विचार के पुरुष आसानी से इन जातियों में रोटी-बेटी के सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इसी तरह अछूत और निम्न श्रेणी की जातियाँ तथा खाना-बदोश जातियाँ सभ्य और सुशिक्षित बनाई जाकर समाज का उपयोगी अङ्ग बन सकती हैं। इस नवीन सङ्गठन में यदि कोई अंश बाधक है तो वे कट्टर हिन्दू हैं, जो पुराने अन्ध-विश्वासों के गुलाम हैं और जो देश के ऊपर तेजी से चढ़ी चली आती हुई उस विपत्ति को देखने की योग्यता नहीं रखते जिसके एक ही झटके में हिन्दुत्व का जीर्ण ढाँचा चूर-चूर हो जायगा !!!

एक समय था, जब भारतवर्ष एक सुदृढ़ क़िले के समान था। वह अपनी आवश्यकता की सभी सामग्री उपजा लेता था। विदेशियों से यदि इसका कोई सम्बन्ध था भी तो सिर्फ़ इतना ही कि उसके काम में आने से जो कुछ बच जाय उसे वह विदेशियों को बेच दे। तब विदेशी व्यापारी उसके द्वार पर खड़े रहते थे, और जो कुछ भारत को देना होता था, उसे लेकर बदले में स्वर्ण और रत्न देकर चले जाते थे! उस समय उसकी एकदेशीयता बनी हुई थी। उसका अन्य जातियों से संसर्ग न करना भी निभ गया था; यद्यपि तब भी भारतीय बड़ी-बड़ी यात्राएँ करते थे—परन्तु वह समय ही और था। राजसत्ता का प्रायः सर्वत्र आधिपत्य था।

भारत में भी राजसत्ता थी – इसके सिवा भारत की एकजाती-यता भी थी।

पर वह क़िला तो अब टूट गया। अब उसकी वह शक्ति, प्रतिष्ठा और परिस्थिति न रही। अब उसे स्वाधीन होते ही शताब्दियों तक व्यापार वाणिज्य और शिल्प-शिक्षा आदि के लिए संसार भर में यात्रा करनी पड़ेगी। संसार की जातियों से मित्रता और सद्भाव बनाना पड़ेगा। ऐसी दशा में यदि हिन्दू अपना चौका, धोती, दाल चावल और जनेऊ लिए फिरें तो समझिए कि उनकी दुर्दशा और असुविधाओं का अन्त न रहेगा! देखिए तुर्क और ईरान इतना कट्टर एशियाई जीवन रहते भी कितने शीघ्र यूरोप में मिल गया! रूस किस तेजी से एशिया में घुस रहा है और जापान कैसे यूरोप के कान काटने लगा! क्या हिन्दू-जाति भी इस सरलतासे पड़ोसी जातियों की बन्धु बन सकती है? उसे तो एशिया के सङ्गठन में सम्मिलित होना अनिवार्य्य है। यदि उसने अपनी मूर्खता और चौके-चूल्हे में फंस कर एशिया के सङ्गठन का तिरस्कार किया तो यह मानी हुई बात है कि एशिया का सर्व-प्रथम काम यह होगा कि वह अपने पहले धक्के में इस निकम्मी अछूत हिन्दू-जाति को विध्वंस कर दे और तब उसे पड़ोस के मुस्लिम राष्ट्र बाँट लें!

यूरोप और एशिया का जो सङ्घर्ष है, वह भारत पर ब्रिटेन का आधिपत्य तो रहने ही न देगा, परन्तु ब्रिटेन के पञ्जे से छूट कर भी भारत हिन्दू जाति की सम्पत्ति नहीं बन सकेगा, जब तक कि वह अपना नया राष्ट्र न निर्माण कर ले और जिसमें हिन्दू, मुसल-

मान, ईसाई और अन्य अल्प-संख्यक जातियाँ। मिल कर एक महाजाति के रूप में न खड़ी हो जायँ !!

भारतीय प्रजातन्त्र के ये हिस्से नहीं बँट सकते, जैसे कि अब अङ्गरेजी राज्य में हैं। कितनी नौकरियाँ हिन्दुओं को और कितनी मुसलमानों को मिलें—यह तुच्छ प्रश्न तब न रहेगा, तब तो यही प्रश्न होगा कि भारत की निवासिनी महाजाति का नाम क्या है, भारत की अधिपति जाति कौन सी है।

मैं प्रथम कह चुका हूँ कि नवराष्ट्र निर्माण में सबों से बड़ी बाधक हिन्दू-जाति है, अन्य जातियाँ बहुत कुछ बढ़ी हुई हैं—यदि हिन्दू जाति उनके बराबर पहुँच जायगी तो अन्य जातियाँ खुशी से मिल जावेंगी !!

हिन्दू-सङ्गठन और शुद्धि-आन्दोलन इन दोनों ही नीतियों से मेरा मतभेद है—मतभेद का मूल कारण यह है कि इन नीतियों से अन्य जातियों को भी हिन्दुओं के उन पुरानी रूढ़ियों के बंधनों में बांधा जा रहा है! प्रश्न तो यह है कि इस समय हिन्दू-संस्कृति संसार की सभ्य जातियों से सामाजिक रीति से मिलने के योग्य है या नहीं? यदि है तो अन्य जातियों को शुद्ध करना ठीक है। यदि नहीं तो जहां २२ करोड़ चौका-चूल्हा, जाति, छूत अछूत, जनेऊ धोती की चिन्ता में हैं, वहां ३०–३२ करोड़ हो जावेंगे! पर मुख्य और विकट प्रश्न तो बना ही रहेगा। मुझे यह कहने में जरा भी सङ्कोच नहीं कि भारत की अन्य जातियां राष्ट्रीयता की दृष्टि से कहीं अधिक सुगठित हैं। फिर उन्हें इस रूढ़ि-बन्धनों से विवश जर्जर जाति में फांसना देश के लिए कहां तक अच्छा है?

अलवत्त, हिन्दू नाम से मैं प्रेम करता हूँ ! भले ही उसका चाहे जो भी भद्दा अर्थ हो—मैं यह स्वाभाविक रीतिसे चाहूंगा कि हिंदुस्तान का प्रत्येक प्राणी अपने को हिन्दू कहे । मैं हिन्दू राष्ट्र के निर्माण का प्रश्न देखता हूँ और हिन्दू राष्ट्र के निर्माण की ही योजना सामने रखता हूँ और उसमें सभी अल्प-संख्यक भारतीय जातियों को लीन करने की कामना भी करता हूँ । पर हिन्दू राष्ट्र की वह शक्ति होनी चाहिए, कि संसार की सभी जातियों में उसके अबाध सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो सकें—तभी भारत में एक महान् राष्ट्र का उदय हो सकता है !!!

———

(३)

ब्राह्मणत्व का नाश

मेरी यह खुली राय है कि जब तक ब्राह्मणत्व का जड़-मूल से नाश न हो जायगा, तब तक हिन्दूराष्ट्र का सङ्गठन होना किसी भी भांति सम्भव नहीं। ये शब्द बहुत कठोर हैं, परन्तु आज २१ वर्ष से मैं इन्हें छाती में छिपाए बैठा हूँ। ये शब्द मैं दुनिया—ख़ासकर हिन्दू-समाज—के सम्मुख रक्खूं या नहीं—इसकी विवेचना मैंने बड़ी ही बेचैनी से गत १० वर्षों में की है। मेरे ये शब्द नए, भाव कठोर और कानों को असह्य हो सकते हैं—परन्तु ऐ हिन्दू-जाति के बुद्धिमान भाइयों! जरा इस बात पर तो विचार करो कि जो जाति की जाति यह दावा करे, कि हम चाहे जैसे भी मूर्ख, पाखण्डी, धूर्त, नीच, शराबी, व्यभिचारी, लम्पट, खूनी, कलङ्की, चोर, लुटेरे, क़साई और विश्वासघाती एवं ग़ुलाम-चाकर हों; किन्तु फिर भी संसार भरकी मानव जातिमें सबसे श्रेष्ठ और सभी के वन्दनीय हैं; यह श्रेष्ठता हमारा जन्म-अधिकार है; और हमसे भिन्न अन्य कोई भी मनुष्य चाहे जैसा श्रेष्ठ, विद्वान्, सदाचारी, धर्मात्मा, त्यागी, तपस्वी हो—वह हमसे निकृष्ट ही है—उसके प्रति उपरोक्त घृणा न प्रकट की जाय तो किया क्या जाय?

किसने हिन्दू-जाति को दिमाग़ी ग़ुलामी में फँसा कर इसलोक और परलोक के स्वार्थों की स्वतन्त्र चिन्तना के अधिकार छीन लिए हैं? इसी ब्राह्मणत्व ने! किसने अन्धविश्वासों और ढकोसलों

की सृष्टि करके हिन्दू-जाति को अपकर्षी बनाया है? इसी ब्राह्मणत्व ने! किसने स्वर्गों-नरकों के झूठे मनोरञ्जक और भयानक बच्चों के से क़िस्से बना कर पुनर्जन्म के दार्शनिक सिद्धान्तों पर दूरतक विचार करने वाली आज दिन हमारी सन्तान को कुसंस्कारी और वहमी बना दिया? इसी ब्राह्मणत्व ने! किसने हिन्दू-समाज को ऊँच-नीच, छुआछूत का भेद सिखा कर संसार की महाजातियों के मन में विरक्ति उत्पन्न की? ब्राह्मणत्व ने! किसने यन्त्र-तन्त्र, गण्डे-तावीज़, ढोंग, पाखण्ड, झूठ और अन्ध-विश्वासों की भावना को हिन्दू-सन्तान की नस-नस में भर दिया? ब्राह्मणत्व ने! किसने दान और यज्ञों के पाखण्ड और माहात्म्यों के थोथे आडम्बर में बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओं से व्यर्थ दिग्विजय और अश्व-रक्षा में रक्तपात और लूट-पाट करा कर सर्वस्व दक्षिणा में दे देने की बेवक़ूफ़ी सिखाई? ब्राह्मणत्व ने! किसने आज भी हिन्दू-जाति को कस कर पकड़ रक्खा है और नहीं उभरने देता? ब्राह्मणत्व! आज मैं ऐसे असंख्य विद्वान, सदाचारी, देश-सेवक और योग्य पुरुषों को बता सकता हूँ कि जिनकी बारह आना योग्यता इसी लिए निकम्मी होगई है, कि वे दुर्भाग्य से ब्राह्मण हैं। इस ब्राह्मणत्व के बनाए हुए नियम, अन्ध, विश्वास हिन्दू-समाज को पद-पद पर कायर मूर्ख और मग़रूर बनाए हुए हैं!!

मध्यकाल में ब्राह्मणत्व का राजसत्ता पर असाध्य अधिकार था और जन-समाज उनके विधान के आगे सिर न उठा सकता था। मनु आदि स्मृतियों में जो वास्तव में तत्कालीन शासन-विधानकी पुस्तकें थीं, ब्राह्मणत्व के प्रति अत्यन्त घृणास्पद पक्षपात प्रदर्शित

किया है। जिस अपराध पर अन्य जाति के किसी भी पुरुष को प्राण-दण्ड देना चाहिए, उस अपराध पर ब्राह्मण को केवल, कुछ रुपए जुर्माने कर देने चाहिए। मनु के पक्षपातपूर्ण वर्णन तो देखिए—

"पृथ्वी पर ब्राह्मण का जन्म लेना ही श्रेष्ठ होता है। वह सब प्राणियों का स्वामी और धर्म का रक्षक है।" अ० १; श्लोक ९९।

"जगत में जो कुछ है—वह सब ब्राह्मण का है, वह श्रेष्ठ होने के कारण सबको ग्रहण करने का अधिकारी है।" अ० १; श्लो१००

"ब्राह्मण चाहे दान में प्राप्त किया अन्न खाय और वस्त्र पहने—यह वस्तुएँ उसकी अपनी ही हैं। और अन्य पुरुष चाहे अपना ही अन्न खाय या वस्त्र पहने; वे ब्राह्मणों का दिया खाते हैं।" अ० १ श्लोक १०१।

"विद्वान् हो या मूर्ख, ब्राह्मण तो महान् देवता ही है, अग्नि चाहे यज्ञ की हो या साधारण—वह देवता ही तो है।" अ० ९; श्लोक ३१७।

"जुर्माने में प्राप्त किया तमाम राज-खज़ाना ब्राह्मण को और राज्य, पुत्र को देकर राजा युद्ध में प्राण त्यागे।" अ०९; श्लोक३२३

"प्राणान्तक दण्ड के स्थान में ब्राह्मण का सिर मूँड देना ही काफ़ी है। पर औरों को प्राण-दण्ड ही देना चाहिये।" अ० ८; श्लोक ३७९।

"ब्राह्मण चाहे सब पापों में स्थित हो, फिर भी उसका वध करना उचित नहीं। उसे सब धन सहित और शरीर दण्ड-रहित राज्य से निकाल दे।" अ० ८; श्लोक ३८०।

क्या कोई भी बुद्धिमान इस प्रकार के पक्षपातों को न्याय का घातक मानने से इन्कार कर सकता है? इतिहास में इस बात के

रोमाञ्चकारी प्रमाण हैं कि किस प्रकार ब्राह्मणत्व की सत्ता की ओट में अत्याचार और अन्यायाचरण किए गए हैं। राजा हरिश्चन्द्र को ठगना और उसे स्त्री-पुत्र तक को बेचने और स्वयं भङ्गी की दासता तक करने को विवश करना—फिर भी कठोरता का त्याग न करना, प्रसिद्ध घटना है! आज लक्षावधि प्राणी हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा और दान-धर्म की प्रशंसा में आँसू बहाते और धन्यधन्य करते हैं, परन्तु कोई भी उस निष्ठुर, स्वार्थी भिक्षुक के प्रति तिरस्कार के वाक्य नहीं कहता। कवि ने उस निष्ठुरता को इन्द्र आदि की कल्पना से मिला कर धर्म-परीक्षा का स्वरूप दिया है! परंतु आज हिंदू-घरों में ऐसे अंध-विश्वासी बच्चे नहीं पैदा होते, जो इन्द्र, देवता, अप्सरा और मृतक बालक के जी जाने, एवं नगर सहित हरिश्चंद्र के स्वर्ग लोक जाने की कोरी कल्पना को सत्य घटना से पृथक् न कर सकें। ये कल्पनाएँ यदि निकाल दी जायँ तो कथा सिर्फ इतनी ही रह जाती है कि विश्वामित्र ने राजा से दान माँगा, राजा ने स्वाभावानुसार यथेच्छ माँगने को कहा। विश्वामित्र ने समस्त राज्य माँगा, और वह दे दिया गया। परंतु दान लेकर कोई ब्राह्मण अहसानमंद नहीं होता। वह तो मानो ब्राह्मण पर भार है, वह उस भार के उठाने की मजदूरी दक्षिणा चाहता है। मानो ब्राह्मण को केवल दक्षिणा ही मिलती है और उसी के लोभ से वह दान का भार उठाता है। परन्तु दान लेने में ब्राह्मण का कुछ लाभ नहीं है—दाता का ही परलोक बनता है। इसलिए विश्वामित्र दक्षिणा माँगते हैं। और राजा को जो जिल्लत उठानी पड़ती है—वह प्रकट ही है!

इस कथानक के दूसरे पहलू पर क्या हम विचार नहीं कर सकते ? राजा ने जो कष्ट भोगे और जिल्लत उठाई—वह तो प्रकट है। पर विना ऐसे पवित्र राजा के प्रजा की क्या दशा हुई होगी—इस पर तो विचारिये। परन्तु भिक्षुक के इस असाध्य अधिकार को तो देखिये कि जिसे धैर्य से आज तक लाखों वर्ष से हिन्दू संस्कृति ने सहा और उसके विरुद्ध चूँ भी न की! कदाचित इस कर्म के लिए इस धृष्ट भिक्षुक की धर्षणा करने वाला मैं ही पहला व्यक्ति हूँगा, जिस पर यह लेख पढ़ते-पढ़ते लाखों आँखें क्रोध से लाल हो जावेंगी।

पर अभी मुझे विचार तो यह करना है कि क्या इतनी नम्रतासे राज्य-दान कर देना हरिश्चन्द्र को उचित था और उसे क्या इसका अधिकार था ? राज्य तो राजा की सम्पत्ति नहीं। वह तो राष्ट्र की सम्पत्ति है; राजा उसका रक्षक और व्यवस्थापक है। वह प्रजा से धन लेकर कोष में सञ्चित करता है –इसलिए कि उसे प्रजा के सर्व-हितकारी कार्यों में खर्च करे, न कि इसलिए कि उसे मूर्ख भावुक की भाँति भिखारियों को दे दे। फिर वे भिखारी चाहे विश्वामित्र जैसे ऋषि ही क्यों न हों। हमें पुराणों के पढ़ने से पता लगता है कि अन्त में वह समय आया था कि बुद्धिमानों ने बलपूर्वक इस बातका निर्णय किया था कि राजकोष राजा की सम्पत्ति नहीं है और उसे दान कर देने का या लुटा देने का राजा को कोई अधिकार नहीं है। मैं हैरान तो इस बात पर हूँ कि जो राजा इस प्रकार दान देने में शेखी समझते थे और जिनके द्वार पर ब्राह्मणों की भीड़ बनी रहती थी, वे राज्य की व्यवस्था सुधारने में क्या

व्यय करते थे। इसका कोई उल्लेख ही नहीं है और आज जब हम देखते हैं कि हमारी प्रबल गवर्नमेण्ट से लेकर, साधारण रियासत के अधिकारी तक, सदैव रुपए की तङ्गी से यथेष्ट सड़क, नहर, प्रबन्ध आदि की व्यवस्था नहीं कर सकते तो—वे कहाँ से इतना धन प्राप्त करते होंगे कि इन निठल्लों को भी मुँह-माँगा दें और राज्य-प्रबन्ध भी करें ?

पर सब से अधिक सोचने की बात तो यह है कि राजा हरिश्चन्द्र और उन जैसे अनेकों धर्मात्मा क्षत्रियों के मन में इस प्रकार दान देने की भावना ही कैसे पैदा हुई ? हमारे पास इसका एक ही उत्तर है कि ब्राह्मणत्व ने उनके मस्तिष्क को गुलाम बना दिया और वे इसके विरुद्ध सोच ही नहीं सकते थे कि यह एक परम प्रशंसनीय और राजाओं को शोभा देने योग्य कार्य है।

अब मैं ब्राह्मणत्व की सर्व-श्रेष्ठता पर भी जरा विचार करना चाहता हूँ। जन्म के अधिकारों की बात जरा पीछे छोड़ दी जाय, गुण-कर्मों पर मैं विचार किया चाहता हूँ। आम तौर से यह कहा जाता है कि ब्राह्मण का अर्थ है—"ब्रह्म का जानने वाला"। मेरा यह कथन है कि उनका यह अर्थ सर्वथा भ्रमपूर्ण है। ब्रह्म के जानने वाला ब्रह्मज्ञ कहलाता है, ब्राह्मण नहीं ! उपनिषदों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों को देखने से हमें यह पूर्ण रीति से विश्वास हो गया कि ब्राह्मण प्राचीन काल में ब्रह्म विद्या से अनभिज्ञ थे। ब्रह्म-विद्या के जानकार तो क्षत्रिय लोग थे और वे यत्नपूर्वक ब्राह्मणों से यह विद्या छिपाया करते थे, जैसा कि उपनिषदों से प्रकट है। यहाँ हम इस विचार की पुष्टि में छान्दोग्य उपनिषद का प्रमाण देते हैं।

"श्वेतकेतु अरुणेय, पाञ्चालों की एक सभा में गया। वहाँ प्रवाहन जैविल राजा ने उससे पाँच प्रश्न किए, पर वह एक का भी उत्तर नहीं दे सका—क्योंकि ये ब्रह्म विद्या सम्बन्धी प्रश्न थे। तब वह लज्जित होकर अपने पिता के पास आया और बोला कि उस राजन्य ने मुझसे पाँच प्रश्न किए, पर मैं एक का भी उत्तर न दे सका। उसका पिता गौतम बोला—हे पुत्र! इस विद्या को तो मैं भी नहीं जानता। तब वह पुत्र की सम्मति से समिधा हाथ में लेकर शिष्य की भाँति राजा के पास गया और कहा कि आप मुझे ब्रह्म ज्ञान सिखाइए। तब राजा ने उसे ज्ञान दिया, और कहा—हे गौतम, यह ज्ञान तुम्हारे पहिले किसी दूसरे ब्राह्मण को प्राप्त नहीं था—ब्राह्मणों में सबसे प्रथम मैं तुम्हीं को यह विद्या सिखाता हूँ। क्योंकि यह विद्या क्षत्रिय जाति की ही है।" (छान्दोग्य उपनिषद् ५।६)

मेरे अभिप्राय को प्रकट करने के लिए यह अकेला ही उदाहरण यहाँ यथेष्ट है। अब मनुस्मृति के वर्णित ब्राह्मणों के लक्षण सुनिए।

वेद पढ़ना-पढ़ाना; दान लेना और देना; यज्ञ करना और कराना—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। अब ज़रा ग़ौर करके देखा जाय, इनमें मनुष्य जाति में सर्वश्रेष्ठ होने योग्य कौन सा गुण है। लज्जा की बात तो यह है कि दान लेना भी गुणों में समझा गया है, जबकि कोई भी आत्माभिमानी किसी का दान नहीं स्वीकार कर सकता। परन्तु अधिक से अधिक वेद-पढ़ना ऐसा गुण हो सकता है, जो ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा बढ़ावे। परन्तु इस वेद पढ़ने का

मूल सिर्फ उन्हें कण्ठ याद रखना और उनके द्वारा भिन्न-भिन्न आडम्बरों के द्वारा यज्ञ रचाना था—उनका अर्थ समझना नहीं।

गीता में जो ब्राह्मणत्व के लक्षण लिखे हैं, वे मनु की अपेक्षा कहीं उच्च हैं।

"शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, शास्त्र-ज्ञान, अनुभव-ज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के कर्म हैं।"

गीता अ० १८; श्लोक ४२।

गीता-वर्णित गुणों से यह पता लगता है कि गीता का उद्गाता ब्राह्मणत्व को सुसंस्कृत करना चाहता था। यह ध्यान में रखने योग्य बात है वह ब्राह्मणत्व के ये स्वाभाविक कर्म बताता है।

अब क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि उत्कृष्ट मानवीय गुण हरिश्चन्द्र राजामें नहीं थे, यदि ब्राह्मणत्व श्रेष्ठ था तो क्यों राजा हरिश्चन्द्र को वह नहीं प्रदान किया गया? क्या युधिष्ठिर, विदुर, श्रीकृष्ण, राम और भर्तृहरि आदि-आदि व्यक्ति शम, दम, त्याग, वैराग्य और ज्ञान की चरम सीमा में पहुँचे हुए पुरुष न थे? परन्तु खेद की बात तो यह है कि वे ब्राह्मणत्व की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार ही नहीं किए गए।

मैं अभी आपको समझाऊँगा कि ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता में भेद क्या है। परन्तु मैं अब एक और उदाहरण आपको दूँगा। वह शतपथ ब्राह्मण का है। सुनिए:—

विदेह जनक की भेंट कुछ ऐसे ब्राह्मणों से हुई, जो अभी आए थे। ये श्वेतकेतु आरुणेय, सोमसुष्म, सत्ययज्ञि और याज्ञवल्क्य थे। उसने उनसे पूछा—क्या तुम अग्निहोत्र करना जानते हो? तीनों ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया।

पर ठीक उत्तर किसी का भी न था। याज्ञवल्क्य का उत्तर यथार्थ बात के बहुत निकट था। पर पूर्णतया ठीक न था। जनक ने उनसे ऐसा ही कह दिया और रथ पर चढ़ कर चल दिया।

ब्राह्मणों ने कहा—"इस राजन्य ने हमारा अपमान किया है।" याज्ञवल्क्य रथ पर चढ़ कर राजा के पीछे गया और उससे शङ्का निवारण की। (शतपथ ११-४-५) तब से जनक ब्राह्मण होगया। (शतपथ ब्रा० ११-६-२१)

अब जरा इस बात पर तो ग़ौर कीजिए कि हरिश्चन्द्र जैसा धीर, त्यागी, उदार, सत्यव्रती और इन्द्रिय-विजयी चरम कोटि के गुण दिखा कर भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त न हो सका, किन्तु जनक सिर्फ़ अग्निहोत्र की विधियाँ बता कर ब्राह्मण होगया। बस ब्राह्मणत्व की असलियत यहीं खुल जाती है।

पुराणों में हमें कुछ ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिनसे पता लगता है कि कुछ लोगों ने ब्राह्मण बनने की चेष्टा की और उनका बड़ा भारी विरोध किया गया, परन्तु इस विरोधका कारण मैं ठीक-ठीक समझ गया हूँ—सिर्फ़ दक्षिणा प्राप्ति की स्पर्धा थी। क्योंकि दानका माहात्म्य ही वास्तव में ब्राह्मणत्व का उत्पादक है।

अस्तु, अब विचारने की बात तो यह है कि आज ब्राह्मणत्व की हमें आवश्यकता है या नहीं—अर्थात् वह हिन्दू समाज के लिए कुछ उपयोगी भी है या नहीं? दूसरे उसमें संशोधन किया जाय या उसका नाश किया जाय?

मैं प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि इस समय और भविष्य में भी हिन्दू-समाज को ब्राह्मणत्व की तिल-

कुल जरूरत नहीं है। इस समय पढ़ाने-लिखाने आदि गुरु का कार्य ब्राह्मण ही करें, इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चाहे भी जिस जाति का हिन्दू बच्चा चाहे भी जिस जाति का शिष्य बन जाता है, यह स्कूल कालेज में हम देखते ही हैं। अलबत्त, संस्कृत शिक्षा-पद्धति में अभी ब्राह्मणत्व की बू है। एक तो संस्कृत पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों ही प्रायः ब्राह्मण होते हैं, परन्तु ब्राह्मण गुरु अब्राह्मण छात्रों से और ब्राह्मण शिष्य अब्राह्मण गुरु से ग्लानि करते हैं—जो कि इस भाग्यहीन जाति के उस झूठे गर्वका चिह्न है, जिसने उसे आज निकम्मा बना दिया है, फिर भी संस्कृत-शिक्षा की परिपाटी तेजी से आधुनिक हो रही है, और यह कट्टरता मिट जायगी। मैं यह भी आशा करता हूं कि संस्कृत का सारा महत्व अति शीघ्र हिन्दी ले लेगी, और संस्कृत पढ़ने वाले छात्र आगामी १० वर्षों में बहुत कम रह जावेंगे। परन्तु ब्राह्मणों को सब से अधिक और अनिवार्य्य आवश्यकता तो धर्म-कृत्यों के लिए है। बिना ब्राह्मण के कोई भी संस्कार—शादी, गमी, गृह-प्रवेश, यात्रा आदि नहीं किये जाते। याजक, ज्योतिषी—और न जाने किस-किस रूप में ब्राह्मणत्व की आवश्यकता बनी ही रहती है। ब्राह्मण किसी भी घर में एक घण्टा किसी भी ग्रन्थ का जप कर जायगा और चवन्नी लेकर उसका माहात्म्य गृह-पति को बेच जायगा। वह यज्ञादि कर जायगा और दक्षिणा ले जायगा! संस्कार करा जायगा और दक्षिणा ले जायगा। इस प्रकार धर्म-कृत्योंका फल बेचना कितना हास्यास्पद है! और किराएके व्यक्ति से गृह-कृत्य कराना भी कम से कम मैं तो पसन्द नहीं करता।

मैं अत्यन्त प्राचीन काल के आर्यों के जीवन का उदाहरण देकर बता सकता हूँ कि तब प्रत्येक गृह का प्रधान गृहपति ही उसका पुरोहित होता था और वही सब के संस्कार कराता था। अब भी यही किया जा सकता है। पुरोहित वह है जो सब से प्रथम हित की बात सोचे। गृहपति को छोड़ और कौन ऐसा है? धर्म-विक्रेता? छी: छी! आर्यसमाज ने इस बन्धन को डरते-डरते तोड़ा है—पर दिमाग़ी गुलामी तो उसकी भी बपौती है, वहाँ जन्म के ग़ैर-ब्राह्मण व्यक्ति, जो साधारण संस्कार-विधि बाँच सकें और जरा जबाँदराज हों, पण्डित जी कहलावेंगे और दक्षिणा भी लेंगे—यह मैंने देखा है। यह तो वही बात हुई। प्रथम उनमें ब्राह्मणत्व पैदा कर दिया गया! मैं ब्राह्मणों का विरोधी नहीं, ब्राह्मणत्व का हूँ; यह याद रखने की बात है। मैं तो यह चाहता हूँ कि प्रत्येक हिन्दू को अपने धर्म-ग्रन्थ, संस्कारों की रीतियाँ और मंगल कृत्य स्वयं जानने चाहिये। वे स्कूलों में भी अनिवार्य्य रीति से सिखाये जायँ। उनमें एक उत्सव की गम्भीरता और विनोद तथा आनन्द की भावना हो। जब कभी आवश्यकता हो, संस्कार आदि में जो उपस्थित व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष हो, पुरोहित के स्थान पर बैठा दिया जाय, और सिर्फ़ शिष्टाचार और सम्मान किया जाय। दान-दक्षिणा की परिपाटी नष्ट कर दी जाय ऐसी दशा में और किसी काम के लिए ब्राह्मणत्व की आवश्यकता नहीं रहेगी। ब्राह्मणत्व अब ऐसी वस्तु ही नहीं रही, जिसके बिना समाज का काम ही न चल सके। यह तो वक्त ही अब लौटकर नहीं आ सकता, जब ब्राह्मणों के अधीन राजाओं को महाराज

और महाराजों को सम्राट बना देने की शक्तियाँ थीं ! यदि इस समय ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया जाय तो छुआछूत ऊंच और नीच, अन्धविश्वास और वाह्याडम्बर बिलकुल मिट जायँ।

ब्राह्मण यदि अपने को सर्वश्रेष्ठ समझे और अन्य जातियों को अपने से नीचा समझे तो इसमें अन्य जातियों का क्या लाभ है ? फिर वे भी अपने में से ऊंच नीच चुनती जावेंगी। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय के हाथ का भोजन करने से इन्कार कर दे तो क्षत्रिय वैश्य और वैश्य शूद्र के हाथ का खाने से इनकार करेगा, यह परम्परा ही है।

अवश्य ही इन सब बातों के रहते यहां सङ्गठन नहीं हो सकेगा। और मैंने खूब सोच विचार कर देख लिया है कि हिन्दू जाति को उठकर खड़ी होने के लिये प्रथम बार जो उद्योग करना है—वह ब्राह्मणत्व का नाश कर देना है। इसलिए मैं यही अपनी खुली सम्मति रखता हूँ कि इसे जड़मूल से नष्ट कर दिया जाय। ब्राह्मण मित्रों, सम्बन्धियों और प्रियजनों एवं बुज़ुर्गों से हमारे वही प्रेम और आदर के सम्बन्ध बने रहने चाहिये—किन्तु धर्म कृत्य या वे काम, जिन की दक्षिणा होती है, उनसे कदापि ब्राह्मण के नाते नहीं कराने चाहिये।

ब्राह्मण भोजन भी इनमें से एक कर्म है—शादी और गमीमें प्रथम ब्रह्म भोज होता है। ऐसा न होकर यदि आवश्यकता ही हो तो एक पंक्तिमें प्रीति भोज होना चाहिए। अलबत्त दान-खाते यदि कुछ अन्न वस्त्र अथवा धन देना हो तो अनाथालय, अस्पताल आदि संस्थाओं को वह दिया जा सकता है।

(४)

जात-पाँत तोड़ डालो

अकेले ब्राह्मणत्व का नाश करके ही हिंदुओं का उद्धार नहीं हो सकता। उन्हें जात-पाँत के कोढ़ को भी जड़-मूल से दूर करना होगा। ब्राह्मणत्व ही इस जात-पाँत के बखेड़े की जड़ है यह तो स्पष्ट है, परन्तु जात-पाँत ने स्वयं भी एक ऐसा कुसंस्कार हिन्दू-जाति में उत्पन्न कर दिया है, कि जो उसे पनपने ही नहीं देता। कोई भी जाति चाहे भी जितनी नीच या निम्न श्रेणी की हो—पर जब कभी उसकी जातीय-पञ्चायत होती है, तब उसकी अकड़-ऐंठ और खींच-तान की बहार देखने ही योग्य होती है। जाति के चौधरी और पञ्च अपने को धन्ना सेठ का ससुरा समझ कर इस तरह अकड़-अकड़ कर बातें करते हैं कि उनकी वाग्मिता पर वाह! कहने को जी चाहता है। जाति के लोग शराब पीकर मतवाले हो जाते हैं या मांसाहारी, व्यभिचारी और कुमार्गी हो रहे हैं, यह इन पञ्चों का विचारणीय विषय नहीं। इन पञ्चों का विचारणीय विषय तो यही है कि अमुक ने अमुक विभिन्न नीच-ऊँच जाति की स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अमुक ने अमुक का हुक़्क़ा पी लिया, इत्यादि!

ये चौधरी और पञ्च प्रायः मूर्ख और लालची एवं स्वार्थी होते हैं। और प्रायः दलबन्दी की कीचड़ में लथपथ होते हैं। ऐसी

दशा में इनके फ़ैसलों में न्याय की गुञ्जाइश होना सम्भव ही नहीं। ये लोग बिरादरी के लोगों को अपनी पालतू भेड़ समझते हैं और उन्हें अपनी पञ्चायत के बाड़े में बन्द करके मनमाने ढंग से उन्हें दाना-पानी दिया चाहते हैं। कभी-कभी तो इनके अत्याचारों से ग़रीब व्यक्ति का सर्वनाश ही हो जाता है। पर बहुधा यही देखने को मिलता है कि इन मूर्ख चौधरियों का इन बेचारे जाति के मनुष्यों पर वैसा ही असाध्य एकाधिपत्य रहता है, जैसा कि ब्राह्मणत्व का हिन्दुत्व पर है।

जाति की दीवारें बनीं कैसे? इसका इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है और जहाँ तक मैं समझता हूँ—वह बहुत ही गुप्त भी है। आम तौर से लोग उसके अस्तित्व को नहीं जानते। इसलिये यहाँ संक्षेप में इसकी चर्चा चलाना अनुचित न होगा।

परन्तु जातियों के निर्माण और उनकी व्यवस्था का वर्णन करने से पूर्व मुझे वर्णों के सम्बन्ध में अपनी विवेचना पाठकों के सन्मुख रखनी है—क्योंकि जैसा कि पाठक देख चुके हैं कि मैं ब्राह्मणत्व के विनाश का पक्षपाती हूँ उससे आप समझ गये होंगे कि मैं वर्ण-विभाग का भी उसी भाँति नाश कर देना चाहता हूँ, जिस भाँति ब्राह्मणत्व का और जातित्व का। और चूंकि वर्णों ने ही जातियों के भेद किये हैं, इसलिये वर्णों पर मैं प्रथम प्रकाश डाल कर तब जातियों के इतिहास की ओर झुकूँगा। प्राचीन वर्ण वेद के आधार पर हैं यह प्रायः कहा जाता है, परन्तु ऋग्वेद भर में चारों वर्णों की गन्ध भी नहीं पाई जाती। ऋग्वेद के अध्ययन से हम इस निश्चित परिणाम पर पहुँचते हैं—

१—'वर्ण' शब्द जिसका आधुनिक अर्थ जाति है ऋग्वेद में केवल 'आर्यों और अनार्यों' में भेद प्रगट करने को आया है। आर्यों में भिन्न-भिन्न जातियाँ या वर्ण थे, ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। —मं० ३। सू० ३४। ऋ० ९ आदि

२—'विप्र' शब्द जिसका अर्थ आजकल ब्राह्मण किया जाता है 'मन्त्रद्रष्टा' के अर्थ में आया है अथवा 'बुद्धिमान' के अर्थ का द्योतक है और वह देवताओं के विशेषण के तौर पर काम में लाया गया है।

३—'ब्राह्मण' शब्द जो आजकल एक जाति-विशेष या वर्ण-विशेष का द्योतक है, मन्त्र या पुरोहित के अर्थ में आया है।

—मं० ७। सू० १०३। ऋ० ८ आदि

४—'क्षत्रिय' शब्द कहीं नहीं आया है, 'क्षत्र' शब्द आया है। और उसका अर्थ 'बलवान' है और वह देवताओं के विशेषण के तौर पर काम में लाया गया है।

—मं० ७। सू० ६४। ऋ० २ आदि

५—'वैश्य' शब्द कहीं भी नहीं है। 'विश' शब्द आया है और वह प्रजा के अर्थ में आया है, किसी वर्ण विशेष के अर्थ में नहीं।

६—'शूद्र' शब्द कहीं भी नहीं है। 'दस्यु' है, मगर वह अनार्यों के लिए है। आर्य और दस्यु इन शब्दों के आगे 'वर्ण' पाया जाता है।

७—केवल पुरुष सूक्त में प्रसिद्ध "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मन्त्र है। यह पुरुष सूक्त ऋग्वेद का बहुत पिछला भाग है।

८—ऋषियों की कोई पृथक् जाति या वर्ण न था। 'ऋषि'

शब्द साधारणतया काम में लाया जाता था और न ऋषिगण संसार से विरक्त होकर तप, ध्यान, ज्ञान आदि में समय व्यतीत करते थे, वल्कि वे संसार के साधारण मनुष्य जैसे ही होते थे। वे गृहस्थी रखते थे। खेती करते थे। युद्ध करते थे। अपने खेतों, पशुओं, शत्रुओं के नाश, शस्त्रों आदि के लिए प्रार्थनाएँ करते थे। प्रत्येक कुटुम्ब का एक मुखिया होता था और वही अपने घर में समस्त धर्म-कृत्य और संस्कार आदि करता था।

९—कुछ लोग बड़े-बड़े यज्ञ कराते थे। राजा आदि इन्हें बदले में धन देते थे, परन्तु इनकी भी कोई प्रथक् जाति, या वर्ण न था! इनके रोटी-बेटी के सम्बन्ध सर्व-साधारण से थे। और उनके साथ वे युद्धादि में शरीक होते थे! उदाहरण सुनिए—

(क)—एक योद्धा ऋषि ऐसे पुत्र की कामना करता है कि वह युद्ध में शत्रुओं पर विजयी हो।

ऋग्० मं० ५। सू० २३। ऋ० २

(ख)—एक ऋषि धन, खेत और वीर पुत्र की कामना करता है। ऋग्० मन्त्र ६। सूत्र २७। ऋ० १

(ग)—एक ऋषि धन, घोड़ा, स्वर्ण, गौ, अन्न और सन्तान की कामना करता है। दूसरा अपने पशुओं पर ही सन्तुष्ट है।

ऋग्० मंत्र ६। सूत्र २८। ऋ० ५

एक ही घर में कई वर्ण रहते थे, इसका उदाहरण देखिए—

"मैं सूक्त रचना करता हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पत्थर का काम करती है। हम सब प्रथक-प्रथक कामों में लगे हुए हैं।

जैसे गौएँ चारागाह में आहार के लिए घूमती हैं, वैसे ही हे सोम! हम भिन्न-भिन्न रीति से धन-सञ्चय करते हैं।

ऋग्० मंत्र ९। सूत्र ११२ ऋ० ३

विश्वामित्र प्राचीन वैदिक ऋषि हैं। और वे उस प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के द्रष्टा हैं, जिसे ब्राह्मण अत्यन्त पवित्र और गोपनीय गुरुमन्त्र समझते हैं। ये एक योद्धा ऋषि थे। पीछे पुरोहित का कार्य करने लगे थे। पर पौराणिक उपाख्यान में इनके प्रथम क्षत्रिय और पीछे ब्राह्मण होने की मनोहर कथा गढ़ दी गई है, हालाँकि वे न ब्राह्मण थे, न क्षत्रिय—प्रत्युत् उस काल के ऋषि थे, जब कि ब्राह्मण और क्षत्रिय उत्पन्न ही नहीं हुए थे!

इन तमाम घटनाओं पर विचार करके यूरोप के तीन प्रकाण्ड वेद विद्यार्थी इस विषयपर अपना नीचे लिखा मत प्रकट करते हैं।

"तब यदि हम लोग इन सब प्रमाणों पर ध्यान देकर यह प्रश्न करें कि जाति, जैसा कि मनु के ग्रन्थों में अथवा आजकल है, वेद के प्राचीन धर्म का अङ्ग है या नहीं—तो हमको इसके उत्तर में निश्चय करके 'नहीं' कहना पड़ेगा।"*

"अब तक जातियाँ नहीं थीं। लोग अब तक एक में मिल कर रहते थे। और एक ही नाम से (अर्थात् विसस) पुकारे जाते थे।"¤

---

* Maxmullar's, 'Chips from a German workshop' Vol. ii (1867) p. 307.

¤ Weber's 'Indian Literature' (translation) p. 38.

डॉ॰ रॉथ, जो प्रख्यात वेद-व्याख्याता—यूरोप भर में प्रसिद्ध हैं, बताते हैं कि उस काल में राजाओं के घराने के पुजारी ब्राह्मण कहाने लगे थे, पर उनकी कोई जाति नहीं बन गई थी। आगे चल कर इन विद्वान ने बताया है कि महाभारत के काल में पहुँच कर यह पुजारियों का दल कितना प्रबल होगया था और उनकी एक पृथक जाति बन गई थी।§

आर्य-जाति के मूल उत्पादक हम आठ ऋषियों का नाम यहाँ उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं, जो कि हिन्दू-जाति मात्र के उत्पादक, आदि-पुरुष और गोत्र उत्पादक हैं:—

१—वशिष्ठ

२—कुशिक (विश्वामित्र)

३—अङ्गिरा

४—वामदेव

५—भारद्वाज

६—भृगु

७—कण्व

८—अत्रि

इनके विषय में विष्णु पुराण (अ॰४ ।अ॰२ ।श्लो॰२)में लिखा है कि नभाग का पुत्र नाभाग । उसका अम्बरीष, उसका विरूप, उसका पृषदश्व हुआ और उसका रथीनर । ये लोग जो क्षत्रियवंश के उत्पादक और अङ्गिरस गोत्र के थे । व रथीनरोंके सरदार थे ।

§ As Quoted in Muir's Sanskrit Texts Vol. i (1872) p. 291.

—वामदेव और भारद्वाज ऋग्वेद के चौथे और छठे मंडल के ऋषि हैं। मत्स्य-पुराण (अध्याय १३२) में इन्हें अङ्गिरा ही का वंशज वताया गया है।

गृत्समद् ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के ऋषि हैं, ये भी अङ्गिरस की शाखा के वताए जाते हैं। परन्तु पीछे से भृगुवंश में सम्मिलित हो गए थे। इस घटना की एक कथा भी महाभारत में बयान कर दी गई है। वायुपुराण और विष्णुपुराण में भी इस घटना का उल्लेख है। विष्णुपुराण(४-८)में भी स्पष्ट लिखा है—गृत्समिद् का पुत्र सौनिक हुआ,जिससे चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई है।

कण्व और अत्रि ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ऋषि हैं। विष्णु पुराण (४–१९) और भागवत (४–२०) में इन्हें पुरु की सन्तति वताया गया है—जो क्षत्रिय थे। पर फिर भी कण्व के वंशधर ब्राह्मण माने जाते हैं, विष्णुपुराण (४–१९) में लिखा है कि अजमीध से कण्व और उससे मेधातिथि उत्पन्न हुआ, जिनके वंश में कन्वनय ब्राह्मण उत्पन्न हुए!

अत्रि को, जो ५वें मण्डल के ऋषि हैं, विष्णुपुराण (४–६) में पुरुरवा का दादा कहा जाता है, जो प्रसिद्ध क्षत्रिय थे।

इन ऋषियों का यह परिचय जिन ग्रन्थों से दिया जा रहा है, वे निस्सन्देह उन वेदों से, जिनके मण्डलों के वे ऋषि या वनाने वाले थे, कई हजार वर्ष वाद वने हैं। परन्तु और कोई उपाय उनके परिचय का है ही नहीं। इस परिचय से यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि उक्त ऋषियों के काल में जाति-भेद तो था ही नहीं। वैदिक काल के इतने पीछे ये पौराणिक लोग उस काल के

यथार्थ जीवन को नहीं समझे ! न उन कथाओं का असली तथ्य ही उन्होंने समझा। पर वे अपनी पुरातन भक्ति के कारण उनका मटियामेट भी न कर सके—कथाएँ तो रखनी ही पड़ीं। पर वे यह सोच भी नहीं सकते थे कि पुरोहित और योद्धा एक ही कुल में हो सकते हैं। या योद्धा भी पुरोहित और पुरोहित भी योद्धा हो सकता है। परन्तु मत्स्यपुराण में ९१ ऐसे ऋषियों की सूचना दी गई है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्वीकार किए गए हैं (अध्याय १३०)। इससे क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि वह काल जाति-भेद से रहित था और वशिष्ठ, विश्वामित्र, अङ्गिरा और कण्व के वंश में से चाहे जो ब्राह्मण और क्षत्रिय हो सकते थे। यह स्वाभाविक भी है कि जिन ऋषियों ने पूर्व-काल में वेदों की ऋचाएँ भी पढ़ी हों, उनकी सन्तानों को दस्युओं से युद्ध करने पड़े हों। ऋग्वेद के ऋषिगण तो सूक्त रचना करते थे, शत्रुओं से युद्ध भी करते और पशु भी पालते थे—पर वे न ब्राह्मण थे, न क्षत्रिय और न वैश्य ही। इसका एक प्रबल प्रमाण तो आज यही है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में एक ही गोत्र प्रायः पाए जाते हैं—और जिसका झूठा उत्तर यह दिया जाता है कि ब्राह्मणेतर-जनों को गुरु ने गोत्र दिया था।

वैदिक काल की समाप्ति पर उपनिषद् काल या ब्राह्मण काल आता है और वेद को अध्यात्म रीति से अध्ययन करने वाले क्षत्रियों और उन्हें कर्म-काण्ड के ढङ्ग पर पढ़ने वाले ब्राह्मणों की स्पष्ट दो शाखाएँ हम को देखने को मिल जाती हैं।

यह वह काल है कि जब गङ्गा-जमुना की घाटियों तक आर्यों

ने विस्तार कर लिया था और उन्हें उपजाऊ और रमणीक बना कर कई बड़े-बड़े राज्य बना लिए थे। दर्शन, विज्ञान, शिल्प की उन्नति कर ली थी। इस समय पुत्र लोग पिता का व्यवसाय करने लगे थे, और वर्णों का पृथक्करण हो गया था। क्षत्रियगण अनेकों यज्ञों को आडम्बर से कराने की रुचि रखते थे, इसलिए ब्राह्मण लोग धीरे-धीरे पृथक सङ्गठित होते गए और वे अपना जीवन उन्हीं धर्म-कृत्यों के सीखने में व्यतीत करते गए। और अन्ततः यह समझा जाने लगा कि वे ही परम्परा के लिए उन पवित्र धर्म-क्रियाओं के करने के पात्र हैं और क्षत्रिय केवल युद्ध-कला के अधिकारी हैं। विवाह-मर्यादा की फिर श्रेणियाँ होने लगीं पर ब्राह्मण अन्य वर्णों से भी कन्या ले लेते थे। उधर क्षत्रिय भर मनुष्यों के नायक और रक्षक समझे जाने लगे और उनकी राज-कन्याएँ भी अपने ही समव्यवसाइयों में जाने लगीं। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय उल्लङ्घनीय नियमों द्वारा जुदे हो गए। यहाँ तक कि अति दरिद्र ब्राह्मण की कन्या भी अति धनी वैश्य को नहीं ब्याही जा सकती थी।

वायुपुराण में लिखा है कि सतयुग में जाति-भेद नहीं था, इसके बाद ब्रह्मा ने मनुष्यों के कार्य के अनुसार उनमें भेद किया। और पुराणों में भी ऐसे ही वर्णन पाए जाते हैं। रामायण के उत्तरकाण्ड में भी बताया गया है कि सतयुग में केवल तपस्वीजन होते थे। त्रेता में क्षत्रिय पैदा हुए और इसके बाद आधुनिक चार वर्ण बने।

महाभारत के शान्ति-पर्व के (अ० १८८) में लिखा है—

"लाल अङ्ग वाले द्विज लोग जो सुख-भोग में आसक्त थे; क्रोधी और साहसी थे। यज्ञादि क्रियाओं को भूल गए थे, वे क्षत्रिय वर्ण हो गए। पीत रङ्ग वाले, जो गौ चराते और खेती करते थे, और अपनी धार्मिक क्रियाओं को नहीं करते थे, वैश्य वर्ण में हो गए। काले द्विज लोग, जो अपवित्र, झूठे, दुष्ट और लालची थे और जो हर प्रकार के काम करके पेट भरते थे, शूद्र हो गए।"

यह हम ऊपर बता आए हैं कि प्रथम चार वर्णों का विभक्तीकरण उस समय हुआ जब ब्राह्मण-ग्रन्थों का और उपनिषदों का निर्माण हो गया था और आर्य लोग गङ्गा की घाटी तक उतर आये थे! परन्तु यद्यपि उनके गुण कर्म पृथक् हो गए थे, पर वह एक स्वतन्त्र जाति के स्वरूप में तब भी संयुक्त थे। अर्थात् उनके रोटी-बेटी के सम्बन्ध बराबर जारी थे। और मनुस्मृति के काल तक यह व्यवस्था रह गई थी कि उच्च वर्ण के पुरुष नीच वर्ण की कन्या ले लेते थे, और रिश्तेदारियाँ हो जाती थीं।

यद्यपि क्षत्रिय और ब्राह्मणों के बढ़े-चढ़े वर्णन इस काल के ग्रन्थों में मिलते हैं और इनकी श्रेष्ठता की एक-एक से बढ़ कर डींग हाँकी गई है, परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत ही कम, चुने हुए श्रेष्ठ पुरुष बन सके थे। शेष प्रजा में ज्यों-ज्यों राजव्यवस्था, समानता और सामाजिकता पैदा होती गई—एक तीसरे वर्ण में परिणत हो गई और यह तीसरा वर्ण वैश्य था, जो वास्तव में विश का विकृत रूप था—और जो वास्तव में साधारण प्रजा के अर्थ में ही आया था। क्योंकि मध्यम वर्ग के लोग, जो न

पुरोहित हो सकते थे और न योद्धा, नाना प्रकार के वाणिज्य व्यापार तथा उद्योग में लग गए थे—उनका वर्ण वैश्य हुआ। इन्हीं तीनों की सङ्गठन शक्ति आर्य जाति के नाम से प्रख्यात रही। शूद्रों को केवल नाम मात्र को उन्होंने मिलाया—वास्तव में वे आर्यों के सभी स्वत्वों से हीन थे।

इस समय की जाति-व्यवस्था और पुरानी जाति-व्यवस्था में यही अन्तर पड़ गया है कि पुराने समय में जाति ने ब्राह्मणों को कुछ और तथा क्षत्रियों को कुछ विशेष अधिकार दिया था। पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और साधारण लोग मिल कर अपने को एक ही जाति वाला समझते, एक ही धर्म की शिक्षा पाते थे। उनका साहित्य और कहावतें भी एक ही थीं। सब मिलकर एक साथ खाते-पीते, बेटी व्यवहार करते थे। परन्तु आजकल के जाति-सम्प्रदाय के भेदों ने उसे इस क़दर छिन्न-भिन्न कर दिया है कि शादी-व्यवहार की समानता तो दूर रही, हाथ का छुआ पानी और अन्न भी खाना अधर्म की बात समझी जाती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिनसे जान पड़ता है कि पहिले समय में जाति-भेद इतना कड़ा न था। ऐतरेय ब्राह्मण (६-२९) को देखिए:—

"जब कोई क्षत्रिय किसी ब्राह्मण का भाग खा लेता है तो उसकी सन्तान ब्राह्मण गुण वाली हो जाती है, जो दान लेने में तत्पर, सोम की प्यासी, और भोजन की भूखी होती है और अपनी इच्छा के अनुसार सब जगह घूमा करती है। और दूसरी व तीसरी पीढ़ी में वह ब्राह्मण हो जाती है। जब वह वैश्य का

भाग खा लेता है तो उसकी सन्तान वैश्य गुण वाली होगी, जो दूसरे राजा को कर देगी और दूसरी व तीसरी पीढ़ी में वैश्य हो जाएगी। जब वह शूद्र का भाग खा लेता है तो उसकी सन्तान शूद्र गुण वाली हो जाती है, उन्हें उक्त तीन वर्णों की सेवा करनी होगी और वे अपने मालिकों की इच्छानुसार निकाल दिए जावेंगे और दूसरी व तीसरी पीढ़ी में शूद्र हो जावेंगे।"

पाठक देखें कि परस्पर के अन्न खाने की परिपाटी को किस ढङ्ग से रोका गया है।

पीछे हमने शतपथ ब्राह्मण (११-६-२-१) का हवाला देकर बताया था कि किस भाँति जनक राजा ब्राह्मण कहलाने लगा, और एतरेय ब्राह्मण (२-१९) में इलुषा के पुत्र कवष का वृत्तान्त दिया है, जिसे धूर्त दासी का पुत्र कह कर सभा में से निकाल दिया था। परन्तु देवताओं ने उसे ऋषियों की श्रेणी में रक्खा। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् (४-४) में सत्यकाम जाबाल की कथा है जिसमें उसने स्पष्ट अपने को जार-पुत्र स्वीकार किया था और गुरु ने उसके सत्य भाषण से सन्तुष्ट होकर उसे शिष्य बनाया था। पीछे यह ऋषि बड़ी-बड़ी सभाओं में प्रतिष्ठित ऋषि गिना गया था।

यज्ञोपवीत, जो आजकल जाति का एक बड़ा चिन्ह है, उस काल में नहीं था। इसका प्रचार भी ब्राह्मण-काल में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (२-४-२) में लिखा है कि सब लोग प्रजापति के यहाँ आए तो देवता और पितृ लोग भी यज्ञोपवीत पहिने हुए आए। और कौशीतकि उपनिषद् (२-७) में लिखा है कि विजयी

कौशीतकि यज्ञोपवीत पहन कर उदय होते हुए सूर्य की पूजा करता था।

उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यज्ञोपवीत को केवल यज्ञ करते समय ही पहनते थे। अब तो वह हर समय की गले की फाँसी हो गया है। यज्ञोपवीत का विधान आश्वलायन गृह्यसूत्रों में, पारस्कर गृह्यसूत्रों में, मनुस्मृति और शतपथ ब्राह्मण में है। परन्तु किसी भी वेद में नहीं।

अब हम आर्यों के तीसरे युग में प्रवेश करते हैं। यह युग वह युग था जब दर्शन शास्त्रों और तर्क का जोर हुआ। आत्मा की दुरूह पहेली को विचारते-विचारते और लम्बे-लम्बे यज्ञ करते-करते आर्यों ने उन भौतिक पदार्थों और नियमों पर भी ध्यान दिया जो इन्द्रिय-गोचर और अगोचर के मध्यस्थ थे।

इस समय तक पराजित अनार्यों की बहुत सी जातियाँ आर्यों में मिल गई थीं, और चार वर्णों में ही विभाजित रहना आर्यों को शक्य न रहा, क्योंकि ऊँच-नीच और छुआछूत एवं कुलीनता का भूत उनमें लग गया था। फलतः उक्त चारों वर्णों की अनेक उपशाखाएँ होकर उपजातियाँ बनीं, परन्तु इन उपजातियों का निर्माण हुआ सङ्करत्व के आधार पर।

वशिष्ठ स्मृति में लिखा है:—

(१) लोग कहते हैं कि शूद्र पुरुष से ब्राह्मण स्त्री में जो पुत्र होगा वह चाण्डाल होता है।

(२) क्षत्रिया स्त्री में शूद्र पुरुष से जो सन्तान होती है वह "वैन" कहाती है।

(३) वैश्य स्त्री में शूद्र पुरुष से जो पुत्र होता है वह "अगस्त्या चसाहन" होता है।

(४) ब्राह्मणी में वैश्यसे "रायकु" होता है।

(५) क्षत्रिया में वैश्य को "पौलशक" कहाता है।

(६) ब्राह्मणी में क्षत्रिय से "सूत" कहाता है।

(७) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुषों के अपने से नीचे की पहली दूसरी और तीसरी जातियों की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह क्रम से 'अम्बष्ठ' 'उग्र' और 'निषाद' होते हैं।

(८) ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से जो पुत्र हो वह 'पार्सव' होता है। —वशिष्ठ १८

इस मन्तव्य में बौधायन का थोड़ा मतभेद है—

(१) ब्राह्मण का क्षत्रिया स्त्री में जो पुत्र हो वह 'ब्राह्मण' होता है, वैश्या स्त्री में 'अम्बष्ठ' होता है, शूद्रा में 'निषाद' होता है।

(२) किसी-किसी के मत से पार्सव होता है।

(३) क्षत्रिय का वैश्य स्त्री में जो पुत्र होगा वह 'क्षत्रिय', शूद्रा में जो होगा वह 'उग्र' कहा जाता है।

(४) वैश्य का शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र 'रथकार' कहा जाता है।

(५) शूद्र का वैश्य स्त्री में जो पुत्र होगा वह 'मागध', क्षत्रिया में 'क्षत्रिय' और ब्राह्मण में 'चाण्डाल' होगा।

(६) वैश्य का क्षत्रिया स्त्री में जो पुत्र होगा वह 'आयोगव' और ब्राह्मणी में 'सूत' होता है। इसी प्रकार 'उग्र' पिता और क्षत्रिया माता से 'स्वपाक', 'वैदेहक' पिता और 'अम्बष्ठ' माता से

'स्वपाक', 'वैदेहक' पिता और 'अम्बष्ट' माता से 'वैन', 'निपाद' पिता और शूद्रा माता से 'पौलशक', शूद्रा पिता और 'निपाद' माता से "कौकुटक" होता है। —बौद्धायन १-९-१७

गौतम का नियम इन सब से संक्षिप्त और सुथरा हुआ प्रतीत होता है—

(१६) उच्च जाति की उससे नीचे की पहली, दूसरी व तीसरी जाति से जो सन्तति हो वह क्रम से अम्बष्ट, उग्र, निपाद, दौष्यन्त, और पारसंव होती है।

(१७) उल्टे क्रम से (उच्च जाति की स्त्रियों से जो पुत्र हों वे सूत, मगध, आयोगव, क्षत्रिय, वैदेहक, और चाण्डाल होते हैं।

(१८) कुछ का मत है कि ब्राह्मणी में जो चारों जाति से पुत्र हों वे क्रमशः ब्राह्मण, सूत, मगध और चाण्डाल होते हैं।

(१९) इसी भाँति क्षत्रिय स्त्री में चारों जातियों से उत्पन्न पुत्र क्रमशः 'मूर्द्धाभिसिक्त' 'क्षत्रिय', 'धीवर' और 'पौलशक' कहाते हैं।

(२०) वैश्य स्त्री में चारों जातियों से जो पुत्र हों वे क्रमशः भृज्जकेथ, माहिश्य, वैश्य और वैदेह होते हैं।

(२१) शूद्रा स्त्री में चारों जातियों से क्रमशः पारसंव, यवन, करन और शूद्र होते हैं। —गौतम ४

ये वे प्रामाणिक उद्धरण हैं, जिन्हें कोई कट्टर व्यक्ति भी अस्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ पाठक देखेंगे कि अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही प्रकार के विवाहों से सङ्कर जातियाँ बनती चली गई हैं। पाठक इस बात पर भी विचार करें कि मागध और वैदेह, जोकि भिन्न जातियाँ थीं, चाण्डाल और पौलशक, जो

निःसन्देह अनार्य जाति थीं, यवन जो बैक्ट्रिया के विदेशी थे, सबको इसी कठोर नियम में ला डाला गया है, और सभी की उत्पत्ति उपरोक्त चारों वर्णों से की गई है।

अब एक महत्वपूर्ण बात यह रह जाती है कि अभी तक जो उपजातियाँ बनाई गई हैं, उनमें उन लोगोंको सम्मिलित नहीं किया गया है, जो पेशे और व्यवसाय के कारण आजकल जाति के रूप में बन गए हैं, जैसे सुनार, लुहार, दर्जी, जुलाहा, मोची आदि।

परन्तु हम वेदों में शिल्प-जीवियों को प्रतिष्ठित रूप में पाते हैं,—और उन्हें आचार्य और ऋषि पद प्राप्त था—यह हमें पता लगता है। जैसे तैत्तिरीय अरण्यक प्र० १ अनु० ७; ऋग्वेद अष्टक ८ अ० २ अ-१; ऋग्वेद अ० ८, अ० १, अ० २६-१७; ऋग्वेद अ० २-२-२४-१; यजुर्वेद अ० ५ प्रपा० १। अनु० ११ प० ३-४ आदि-आदि।

परन्तु ज्यों-ज्यों क्षत्रिय और ब्राह्मण शिल्प से हटते गए, त्यों-त्यों जनसाधारण, जो उस समय वैश्य कहाते थे, भिन्न-भिन्न शिल्पों को भी करते रहे। पीछे जब सङ्कर जातियाँ बनने लगीं, और बौद्धों ने वर्ण-संस्कृति को सर्वथा लोप करना चाहा तब भिन्न-भिन्न पेशों की भी जातियाँ बन गईं।

इन विशेष अधिकारों के परम्परागत चलने में बुराइयाँ उत्पन्न होना अनिवार्य था। ब्राह्मणों ने, जो न तो क्षत्रियों के से जान-जोखिम के काम में ही थे और न जनसाधारण की भाँति हाथ से परिश्रम ही करते थे, सरलता से परिश्रमी जातियों के धन में से खाना प्रारम्भ कर दिया। और जिस योग्यता के कारण उन्हें यह

विशेष अधिकार मिला था वह भी उन्होंने प्राप्त करने की कोई चिन्ता नहीं की। वशिष्ट ने यह अन्याय भी देखा और इस पर कड़े नियम बनाए। सुनिए—

१—जो ब्राह्मण न तो वेद पढ़ते न पढ़ाते हैं और न पवित्राग्नि को रखते हैं वे शूद्र के समान हैं।

(४) राजा को उस गांव को दण्ड देना चाहिए जहाँ ब्राह्मण लोग अपने पवित्र धर्म का पालन नहीं करते, और वेद नहीं जानते और भिक्षा माँग कर रहते हैं। क्योंकि ऐसा गाँव लुटेरों का पोषण करता है।

(६) मूर्ख लोग अज्ञानता और पवित्र नियमों को न जानने के कारण जिस पाप को धर्म कहते हैं, वह पाप उन लोगों के सिर पर सौ गुना होकर गिरेगा, जो लोग कि उसे धर्म बताते हैं।

(७) लकड़ी का बना हुआ हाथी, और वेद रहित ब्राह्मण ये नाम मात्र के हैं। —वशिष्ट ३

उस समय क्षत्रियों का कर्त्तव्य था कि वे अपने कर्म के अतिरिक्त युद्ध करें, विजय करें, रथ का प्रबन्ध करें, बाण-विद्या का अभ्यास रक्खें, युद्ध में दृढ़ खड़े रहें, और मुँह न मोड़ें।

—गौ० १०-१५-१६

वैश्यों का मुख्य काम था व्यापार करना, खेती, पशु-पालन, द्रव्य उधार देना, और लाभ के लिए परिश्रम करना।

—गौ० १०-४९

शूद्र का काम तीनों जातियों की सेवा करना था, पर वे धन-उपार्जन के लिए परिश्रम भी कर सकते थे। —गौ०१०-४२

पाठक देखते हैं कि मनुस्मृति के बताए नियमों में और इनमें कितना अन्तर पड़ गया था।

मेगस्थनीज़, जो अब से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व भारत वर्ष में था और मगध-नरेश के दर्बार में यूनान के साम्राज्य का राजदूत था, सात जातियों का खासकर उल्लेख करता है। ब्राह्मणों के विषय में वह लिखता है—

"बालक लोग एक मनुष्य की रक्षा में रक्खे जाते हैं और ज्यों-ज्यों वे बड़े होते हैं त्यों-त्यों उत्तरोत्तर अधिक योग्य गुरु को प्राप्त करते जाते हैं।"

"दार्शनिकों का निवास नगर के बाहर किसी कुञ्ज में किसी साधारण लम्बे-चौड़े घेरे में होता है। वे बड़ी सीधी चाल से रहते हैं। फूस की चटाइयों व मृगछाला पर सोते हैं। माँस और शारीरिक सुखों से परहेज रखते हैं और अपना समय धार्मिक वार्तालाप करने में व्यतीत करते हैं।

"३७ वर्ष तक गुरु के पास रह कर प्रत्येक पुरुष अपने घर को लौट आता है और अपने शेष दिन शान्ति से व्यतीत करता है। तब वह उत्तम मलमल और उंगलियों और कान में सोने के आभूषण पहनता है। माँस खाता है, परन्तु परिश्रम में लगे हुए पशुओं का नहीं। वह गर्म और अधिक मसालेदार भोजनों से परहेज़ रखता है वह जितनी स्त्रियों से चाहता है, विवाह कर सकता है। इसलिए कि बहुत सी सन्तान उत्पन्न हों, इससे यह लाभ होता है कि उसे अपनी सेवा के लिए दास नहीं रखने पड़ते।

"श्रावन लोग जङ्गलों में रहते और पेड़ों के फल और पत्तियाँ

खाते तथा वृक्षों की छाल पहनते हैं। वे उन राजाओं से बातचीत करते हैं जो दूतों के द्वारा भौतिक पदार्थों के विषय में उनकी सम्मति लेते हैं और जो उनके द्वारा देवताओं की पूजा और प्रार्थना करते हैं।

"औषध विद्या को जानने के कारण वे विवाहों को फलदायक कर सकते हैं और गर्भस्थ सन्तान को पुरुष या स्त्री दोनों के विषय में बता सकते हैं। वे बहुत करके औषध द्वारा नहीं वरन् भोजन के प्रबन्ध द्वारा रोग को अच्छा करते हैं। उनकी सर्वोत्तम औषध मरहम और लेप है।"

दार्शनिकों के विषय में वह और कहता है—"वे सर्वसाधारण के कामों से बचे रहने के कारण न तो किसी के मालिक और न किसी के नौकर हैं। परन्तु लोग उन्हें यज्ञ करने या मृतक क्रिया करने को बुलाते हैं। वे एकत्रित भीड़ को वर्षा होने या न होने के विषय में तथा लाभकारी दवाओं और रोगों के विषय में भविष्य-वाणी बताते हैं।"

ब्राह्मण, जिन्हें मेगस्थनीज़ पृथक जाति समझता है, उनके विषय में कहता है—"वे राजाओं के राज-काज के सम्बन्ध में सम्मति देते, ख़ज़ाना रखते, दीवानी और फ़ौजदारी मुक़द्मों का फैसला करते हैं। पढ़े-लिखे लोग धर्म सम्बन्धी बातों में उनकी सम्मति और बड़े-बड़े यज्ञों में उनकी सहायता लेते हैं और खेती करने वाले पण्डितों से वर्ष भर का हाल पूछते हैं।"

पाठक देखें कि किस प्रकार यह जाति, जो सब प्रकार से लोगों द्वारा सम्मानित थी, धीरे धीरे अपने विशेषाधिकारों को

पूरे प्रकार से काम में लाने लगी और मिथ्या बातों के द्वारा उस श्रेष्ठता को दृढ़ करने का प्रयत्न करने लगी—जो प्रथम विद्या या पवित्र जीवन के कारण उसे प्राप्त थी।

क्षत्रियों के सम्बन्ध में मेगस्थनीज़ कहता है—वे युद्ध के लिए सज्जित और तैयार रहते हैं। परन्तु शान्ति के समय वे आलस्य और तमाशे में लगे रहते हैं। सारी सेना—शस्त्रधारी सिपाही, घोड़े, हाथी आदि का खर्च राजा के सिर होता है।

"ओवरसियर, राज्य में सब बातों का पता लगाते और राजा को बताते हैं।"

वैश्यों और शिल्पियों के विषय में वह कहता है—"वे अन्य साधारण कामों से बचे रहने के कारण पूरा समय खेती में लगाते हैं। शत्रु उन्हें नुक़सान नहीं पहुँचाते। वे राजा को भूमि-कर देते हैं, क्योंकि सारा भारतवर्ष राजा की सम्पत्ति है और कोई मनुष्य भूमि का मालिक नहीं है। भूमि-करके सिवा वे चौथाई पैदावार राज-कोष में देते है।

"शिल्पी कुछ शस्त्र बनाते हैं और कुछ अन्य खेती सम्बन्धी औज़ारों को। इन्हें कोई कर नहीं देना पड़ता, उल्टे उन्हें राज्य से सहायता मिलती है।"

पाठक देखें कि यह विदेशी उस समय के जाति-विभाग का कैसा आँखों देखा स्पष्ट और पक्षपातरहित वर्णन करता है।

अब पाठक इसके बाद के उस काल पर भी दृष्टि डालें, जब भारत में बौद्धों का दौर-दौरा हो गया था। हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म शताब्दियों तक एक-दूसरे के साथ चले गए। उच्च-कुल के लोग

ब्राह्मण धर्मी तथा सर्वसाधारण बौद्धधर्मी बहुतायत से बनते थे। पीछे जब राजाओं ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया, तब उसका रूप बदल गया।

वर्तमान मनु का संस्कृत संस्करण बौद्ध-काल में हुआ है, और उसमें बौद्धकालीन हिन्दुओं का सामाजिक जीवन ही वर्णित किया गया है। प्राचीन सूत्रों का सम्बन्ध किसी न किसी वैदिक शाखा से था, परन्तु मनु का सम्बन्ध किसी शाखा से नहीं था। वह वास्तव में वैदिक आर्यों और पौराणिक हिन्दुओं के मध्य का एक बड़ा भारी पुल है।

फिर भी उसने उपजातियों की उत्पत्ति प्राचीन सूत्रकारों ही के ढङ्ग पर मानी है। इसके मत में एक विशेषता यह है कि प्रथम श्रेणी के तीन वर्णों से नीचे की तीन वर्णों की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह अपने पिता के वर्ण का होता है। नई जाति का नहीं। मनु ने अपनी सूची को बहुत लम्बा किया है। इस पर भी इसने अन्य जाति के लोगों को भी सम्मिलित कर लिया है। पौण्ड्रक (उत्तरीय वङ्गवासी), उद्र (उड़िया) द्रविड़ (दक्षिण) काम्बोज (क़ाबुली), यवन (बैक्ट्रिया के यूनानी), शक (तूरानी जाति के आक्रमक), पारद, पहलव (फ़ारस के लोग), चीन (चीनी). किरात (पहाड़ी) वरद-खस आदि भी इसी प्रकार की जातियों में मिला दिये हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ इस पुस्तक में आर्य अनार्य सभी जातियों को गिन लिया है वहाँ पेशेवर आदमियों को जाति की शकल में नहीं गिना गया। मनु सुनार-लुहार आदि का ज़िक्र तो करता है, पर वह उन्हें दूसरी

जाति में नहीं गिनता। इससे यह निश्चय होता है कि उस समय तक भी ये व्यवसाय ही माने जाते थे।

अब हम पौराणिक काल की तरफ़ झुकते हैं, जहाँ यह जात-पाँत का बन्धन एकदम भयानक रूप धारण कर लेता है। इसी काल में भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वालों की जातियाँ बन गईं और यह बदनसीब हिन्दू जाति इस बन्धन में पिस मरी और हिन्दुओं की जातीयता एवं राष्ट्रीयता सर्वथा ही नष्ट हो गई।

प्रथम के तीनों वर्णों को इस काल तक भी धर्म-विधानों को करने तथा वेद पढ़ने की आज्ञा थी, और तीनों वर्णों के गुण-कर्म भी स्मृतियों के अनुकूल थे। परन्तु शिल्प कर्म शूद्र का क़रार दे दिया गया और अनेक शिल्पी जातियाँ शूद्रों में मिल गईं।

—विष्णुपुराण २

सिर्फ़ याज्ञवल्क्य (१ । १२०) उसे वाणिज्य का अधिकार देते हैं। याज्ञवल्क्य ने १३ मिश्रित जातियों का उल्लेख किया है, जो लगभग वैसी ही हैं जैसी कि हम पूर्व में बता चुके हैं।

—याज्ञ० १ । ९१ । ९५

इन १३ मिश्रित जातियों में भी व्यवसाय करने वाली जातियाँ नहीं हैं। बल्कि कई उन आदि-वासियों के नाम हैं, जो धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म के अन्दर मिल गई थीं। याज्ञवल्क्य यह बात जानता था और उसने लिखा है कि ७ वें और ५ वें युग में या कर्मों के अनुसार नीच जाति उच्च पद प्राप्त कर सकती है।

—याज्ञ० १ । ९६

मनु ने कायस्थों के विषय में कुछ नहीं लिखा। मगर पुराणों

में कायस्थों की खूब निन्दा की है। इसका कारण स्पष्ट है। कायस्थ पौराणिक काल में और मुग़लों के समय में भी राज-सम्बन्धी आय कर, वसूली, हिसाव आदि के उच्च पदों पर थे। मृच्छकटिक में कायस्थ को न्यायाधीश की सेवा में पाया जाता है। कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी में राजा के हिसाव रखने वालों, कर उगाहने वालों, तथा कोषाध्यक्ष के पद पर कायस्थों का जिक्र किया है। वे शीघ्र ही ब्राह्मणों के कोप में पड़े। वे सभी से कर उगाहते थे। किसी पर न छोड़ते थे। कल्हण ने स्वयं उनकी बड़ी कड़ी निन्दा की है! यह जाति मुसलमानों के काल में स्वतन्त्र जाति वन गई। याज्ञवल्क्य (१ । ३२) में कहता है कि राजा को ठगों, चोरों, वदमाशों, डाकुओं और ख़ासकर कायस्थों से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।

यह कायस्थ वास्तव में जाति न थी; क्योंकि विष्णुपुराण में लिखा है कि—"राज-दर्वार में दस्तावेज़ पर राजा की सही तव की जाती है, जव कि वह राज की ओर से नियुक्त कायस्थ के द्वारा लिखा हो।" डॉ० जौली ने इसीलिये 'कायस्थ' शब्द का अर्थ मुहर्रिर किया है।

याज्ञवल्क्य ने वैद्यों की गणना भी चोरों और वेश्याओं के साथ की है और उन्हें इस योग्य वताया है कि उनका भोजन न ग्रहण किया जाय। —याज्ञ० १। १६२

यहाँ हम यह वता देना चाहते हैं कि सूत्रकारों, मनु तथा याज्ञवल्क्य ने अम्वष्ठ जाति को वैद्यों में गिना है। वशिष्ठ ने अम्वष्ठों की उत्पत्ति ब्राह्मण और क्षत्रियों के मिश्रण से तथा मनु

और याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों और वैश्यों से लिखी है। मनु ने अम्बष्ठों को वैद्यक जानने वाला भी लिखा है।

—मनु० १० । ४७

इन उद्धरणों से हम नतीजा निकाल सकते हैं कि यद्यपि ये व्यवसाय जातियाँ नहीं बने थे, पर अपमान की दृष्टि से अवश्य देखे जाते थे।

यह संक्षिप्त इतिहास है उस विपत्ति का या सर्वनाश के बीज का, जिसने हिन्दू जाति को छिन्न-भिन्न कर दिया। वह ग़ारत हो गई है। मैं ऊँची आवाज़ से सारे हिन्दुओं से यह पूछता हूँ कि वे यह तो बतावें कि इस जात-पाँत से क्या लाभ है? इससे कौन सा इस लोक का या परलोक का मतलब हल होता है? मेरे साथ आओ, मैं लाखों ब्राह्मणों को वेश्याओं का थूक चाटते दिखा दूँ। हज़ारों वैश्यों को होटल में मांस और शराब गटकते दिखा दूँ। इसमें इनका धर्म नहीं बिगड़ता। बिरादरी चूँ भी नहीं करती। चाहे भी जिस जाति की स्त्री से पाप-कर्म करने में जाति कुछ नहीं कहती, मगर विवाह करके उन्हें पत्नी बनाना पाप समझती है। मैं पूछता हूँ—पाप व्यभिचार है या पाप वह है जो नीति का पालन किया जाय। क्या ऊँची जाति के लोगों का शरीर हाड़-मांस का नहीं? हम बेवकूफ़ घमण्डी उच्च जाति वालों को मुसलमानों और अङ्गरेज़ों के सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाते तो ज़रा भी ग़ैरत नहीं आती, मगर घर में आते ही हम अपनी कुलीनता की ढींग हाँकते हैं। मैं उन पुरुषों को भी जातीय मामलों में कड़ी अकड़ से ऐंठता देख चुका हूँ जिन्हें दूसरी जाति

वाले तुच्छ समझते हैं। यह कैसे शोक और पश्चात्ताप का विषय है।

हाँ, मैं यह कहता हूँ कि वर्ण-व्यवस्था भी नष्ट कर दो। यह तो मैं खास तौर पर जोर देकर पहले ही कह चुका हूँ कि ब्राह्मणत्व का तत्काल नाश कर देना चाहिए। मेरा कहना यह है कि अन्य वर्णों के विभाग की भी जरूरत नहीं है। चाहे भी जो व्यक्ति चाहे भी जो व्यवसाय अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार करेगा—जिसका भी उसे सुभीता होगा। आज ब्राह्मण हलवाई हैं, खोमचा बेचते हैं, रसोई करते हैं, पानी भरते हैं, मुनीम हैं, चपरासी हैं, साहूकार हैं, वकील हैं, और ऊँचा-नीचा ऐसा कोई पेशा नहीं जिसमें वे न हों। फिर भी वे ब्राह्मण हैं। यह स्मरण रखने का एक तो यह कारण हो सकता है कि वे ब्राह्मणों में ही रोटी बेटी के संबन्ध करें, दूसरा—दुनिया से वे अपने को सर्वश्रेष्ठ समझें। ये दोनों ही अधिकार, जितनी जल्दी हो सके, उनको नष्ट करदेने चाहिएँ।

बेशक मैं क्षत्रियों के वर्ण की भी आवश्यकता नहीं समझता। निकट भविष्य में जो नया राष्ट्र बनेगा उसके लिए हिन्दुस्तान के प्रत्येक युवक को क्षत्रियों के गुणों को सीखना होगा और उनकी राष्ट्रीय सेना, जब भी देश की जरूरत होगी, देश के लिए लोहू बहाने को तैयार मिलनी चाहिये। अब यदि युद्ध होंगे भी तो उस प्रकार के न होंगे, जिस प्रकार के कि ह्वेनसाँग ने या मेगस्थनीज ने देखे थे कि शत्रु किसानों और व्यवसायियों को छेड़ते तक न थे। अब—जब भी जहाँ युद्ध होगा—विध्वंस होगा। इसलिये देश की तमाम शक्ति को वर्णों या जातियों में

विभक्त करने में नहीं, वल्कि उसकी महा-जाति बनने में ही उसका कल्याण है।

वैश्य वृत्ति के लिए किसी जाति को रिजर्व करना मूर्खता है। शान्ति के समय में ब्राह्मण और योद्धा क्या करेंगे? धर्म-कार्यों को किराये पर कराना तो घृणास्पद है ही—शान्ति में योद्धा लोग क्या नाच-रङ्ग में पड़े रहेंगे, जैसा कि पहले होता था? क्या आज भी सभी जातियाँ सब प्रकार के व्यापार नहीं कर रही हैं? क्या युद्ध-जीवन ठण्डा होते ही आज करोड़ों राजपूत—जाट, गूज़र आदि जो क्षत्रिय हैं, खेती नहीं कर रहे हैं—पशु-पालन नहीं कर रहे हैं, जो वास्तव में वैश्य का कर्तव्य है? फिर वे झूट-मूठ को क्षत्रिय या राजपूत क्यों कहलाते हैं? इस लिए हम कहते हैं कि हम वर्ण और जाति की व्यवस्था को ही नष्ट कर दें। हम सारे भारत की एक जाति निर्माण करें, और रोटी बेटी के सम्बन्ध न केवल भारत भर में, प्रत्युत संसार की मनुष्य जाति भर में जायज़ हो जायँ। तभी एशिया का यह सर्व-प्रधान देश अपने व्यक्तित्व का उदय करेगा और इसकी वह सत्ता चमकेगी जो यूरोप के शायद ही किसी देश की चमकी हो।

---

(५)

धर्म व्यवसाइयों का नाश

जो लोग हिन्दू-जाति के गुनहगार हैं, जिन्होंने पीढ़ियों से हराम की कमाई खायी है, जिन्होंने हिन्दू-जाति को सदैव ही सच्चे धर्म से दूर रखकर उसे अन्ध-विश्वासों और ढकोसलों में फंसा रखा है, जिन्होंने हिन्दू-जाति की गाढ़ी कमाई घोर पाखण्ड करके लूटी है और दुराचार में खर्च की है, जो धर्म के नाम पर अधर्म करते रहे हैं, जो अधिकांश में मूढ़ और कुमार्गी हैं, और जिन्हें ज़िन्दा ज़मीन में गाड़ देना चाहिए, इस नवीन युग में आज सारी हिन्दू-जाति उन समस्त पुजारियों की खुशामद में लगी हुई है। यह अभागिनी हिन्दू-जाति के पतित और मुर्दार अस्तित्व का एक ज़बर्दस्त प्रमाण है। अछूतों के मन्दिर प्रवेश को लेकर देश भर में भयानक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है; मज़ा यह है कि हमें सिवा पुजारियों की खुशामद करने के दूसरा मार्ग ही नहीं नज़र आता। लानत है हमारी बुद्धि पर, और धिक्कार है हमारी दिमागी गुलामी पर।

अरे बदनसीब लोगो; तुम पुजारियों पर यह दोष लगाते हो कि वे मन्दिर में अछूतों को प्रवेश नहीं करने देते; मैं कहता हूँ तुम उन्हें अपने रसोई-घर में, बैठक में, भण्डार में क्यों नहीं प्रवेश होने देते? इसके लिये भी कोई शैतान पुजारी तुम्हें रोकता है?

और जब तुम यह करने लगोगे, क्या फिर भी कोई पुजारी उन्हें रोकेगा ? आज, जब प्रत्येक हिन्दू को दिमाग़ी ग़ुलामी से उद्धार करने का अवसर है—तुम बदनसीब अछूतों के मनमें मन्दिर के प्रति क्यों मोह पैदा करते हो, जिन्हें हम कल अपने बच्चों के लिए शिक्षालय बनाने वाले हैं ? क्या हम इस समय पुराणों के गपोड़ों की जड़ में पानी नहीं डाल रहे हैं ? क्या हम अपढ़, असहाय अछूतों के हृदयों को अन्धेरे में नहीं धकेल रहे ? क्या हमारा यह फर्ज़ है कि जब हज़ारों वर्ष बाद उनके उभरने का समय आया है तो उन्हें उन्हीं धार्मिक पाखण्डों के विश्वासी बनावें जो शताब्दियों से पेशेवर गुनहगारों के हाथ में रहे हैं, और जिन्होंने हमें नष्ट कर दिया है ? हिन्दुओं, सोचो, इन मन्दिरों और पुजारियों ने सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक परमेश्वर को हम से दूर कर दिया है, ये हमारे और हमारे भगवान् के बीच में ठेकेदार बने बैठे हैं, हम अपनी गाढ़ी कमाई का सर्वाधिक पवित्र धन जो देवार्पण करते हैं उसे ये पापी हमारे ही सामने रण्डियों और शराब में खर्च करते हैं। ये मूढ़ पत्थर से भी अधिक हृदयहीन हैं। ये पुजारी जिन्हें देवता कहते हैं उन्हीं के सामने हमारी बहन-बेटियों को घूरते हैं जो इन्हें दर्शन के योग्य समझती हैं, और अत्यन्त कोमलता-पूर्वक मन्दिरों पर अन्ध श्रद्धा रखती हैं। इनसे हिन्दू-जाति को कभी कोई लाभ नहीं हुआ, न होने की आशा है। हमें मन्दिरों का मोह मन से निकाल फेंकना चाहिये। हमें प्रण करना चाहिए कि मन्दिर में एक पाई भी देना घोर पाप है। हमें मन्दिर में दर्शन करने जाने की मूर्खता भी त्याग देनी चाहिए। हमारे

परमेश्वर हमारे घट में हैं। हमारी आत्मा उसमें ओतप्रोत है। हमें अपने नित्य के जीवन को परमेश्वर में व्याप्त करना चाहिए। परमेश्वर के दर्शन करने के लिये मन्दिर जाना हास्यास्पद मूर्खता है जब कि वह सर्व-व्यापक है। परमेश्वर के नाम पर पैसा भेंट चढ़ाना भी गधापन है; क्योंकि वह संसार का स्वामी है—इन पुजारियों की भाँति लफङ्गा और भिखारी नहीं। क्या पाठकों ने कभी इस बात पर भी विचार किया है कि इन पुजारियों ने वेश्याओं को किस नफ़ासत के साथ मन्दिरों में स्थान दिया था? आज भी आप दक्षिण के मन्दिरों में, जहाँ पुजारियों का बोलबाला है और मन्दिर क़िले की भांति हैं, एक-एक मन्दिर में हज़ारों सैंकड़ों देवदासियां पावेंगे जो सब वेश्यायें हैं। यदि आप गोआ के प्रान्त में जायं तो वहां आप देखेंगे कि इन पतित पुजारियों ने जाति की जाति को वेश्या बना दिया है।

एक समय था जब वेश्यायें अन्य देशों में भी पुजारियों का काम करती थीं। बेबिलोनिया की देवी माई लिट्टाके मन्दिर में जो यात्री सर्व-प्रथम देवी की मूर्ति पर पैसा चढ़ाता था उसे किसी भी स्त्री को आत्मार्पण करना पड़ता था। क्या व्यभिचार धर्म हो सकता है? यह बात पूछने की शक्ति क्या हम अभी तक अपने मन में पैदा कर सकेंगे? क्या परायी अबोध बेटियों को मूर्ति के साथ फेरे डलवा कर उनके गले में देव-मूर्ति का पत्तर डाल-कर उन्हें मुक्त व्यभिचार के लिए छोड़ देना पतित से पतित जाति के लिए भी शर्म की बात नहीं है? यह बात मुझे कहनी ही पड़ती है कि आज पृथ्वी-भर में केवल हिन्दू ही ऐसी जाति रह गई

जो अपने को सभ्य समझती है और पत्थर की मूर्तियों को ईश्वर समझती है और अबोध बालिकाओं को वेश्या बना कर मन्दिरों में रखती है।

मैं आपको दृढ़तापूर्वक बताना चाहता हूं कि प्राचीन कालके हिन्दुओंका कोई मन्दिर न था, वे मूर्तिकी पूजा नहीं करते थे। वेद में मूर्ति-पूजा का कोई विधान नहीं है। वेद में उन देवताओं का भी कोई जिक्र नहीं है जिन्हें इन पेशेवर गुनहगारों ने कल्पित करके झूठ और बेईमानी की दूकानें खोल रक्खी हैं।

यदि हम संसार के प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थ ऋग्वेद का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि उसमें सर्व संसार के रचयिता के साथ प्रकृति के दर्शनीय पदार्थों के प्रति आदर प्रकट किया गया है। वह आकाश, जो चारों ओर हमें घेरे है; वह सुन्दर और निर्मल प्रभात, जो गृहिणी की भांति कामकाजी पुरुषों को जगाकर सुन्दर अलोक-दान करता है; वह सुन्दर प्रकाशमान सूर्य जो पृथ्वी को सजीव करता है; वह वायु, जो संसार में व्याप्त है; वह अग्नि, जो हमें प्रसन्न और सजीव रखती है; वे प्रचण्ड आँधियाँ, जो भारत की भूमि को उर्वरा करतीं तथा वर्षाके आगमन को प्रकट करती हैं, प्राचीन ऋग्वेद के ऋषियों के सम्मान एवं विचार की वस्तुएं थीं और इन सबके निर्माणकर्ता के प्रति स्तुति-गान करना उनका स्वभाव था। वरुण, द्यु, इन्द्र, मित्र, आदित्य, सवितृ, अग्नि, ये परमेश्वर के नाम उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकृति तत्त्वों के निर्माण करने के कारण साभिप्राय कल्पित किये थे और उनके विषय में अति कवित्वपूर्ण भाव प्रकट किये थे। मरुत्, यम,

रुद्र, ये सब उसी भांति के सार्थक नाम थे जो पुराणों के सजीव देवता बन गये हैं। इसीप्रकार उषस्, प्रभात और सरस्वती वाग्देवी भी हैं। इन सभी देवताओं की कल्पना करके इनके सम्बन्ध में बहुत से सूक्त रचे गये हैं। पर कहीं भी किसी ऐसे मन्दिर का नाम नहीं है जिसमें इनकी पूजा होती हो। उस समय तो प्रत्येक गृहस्थ, जो उस घराने का स्वामी होता था, अपने ही घरमें होमाग्नि प्रकट करता था और अपनी सुख-समृद्धि के लिए प्रार्थना करता था। न तो पुजारियों की कोई खास जाति ही थी, और न वे सर्व त्यागी ऐसे ही पुरुष थे, जो वन में जाकर पाखण्ड-पूर्ण तपस्या करते थे जिनकी एक से एक बढ़कर झूठी और असम्भव कथायें पुराणों में देखने को मिलती हैं। वे सद्गृहस्थ थे, खेती करते, युद्ध करते, पृथ्वी को उपजाऊ बनाते, पशु पालते, और पवित्र सादा जीवन व्यतीत करते थे। वे न ब्राह्मण ही थे, न क्षत्रिय, न वैश्य,। वे आर्य थे, और उनके प्रमुख विद्वान् ऋषि कहाते थे।

धीरे-धीरे वैदिक धर्म में परिवर्तन होने लगा और वेदों की व्याख्या-रूप ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण किया गया, जिनकी निरर्थक भाषा और बातें स्मरण करके भी मन में थकान उत्पन्न होती है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में प्राचीन होमाग्नि का स्वरूप बड़े-बड़े आडम्बर-पूर्ण यज्ञों में बदल गया, और आर्य जाति दो विभागों में बंट गयी। कुछ लोग राजा या क्षत्रिय बनकर यज्ञ कराकर 'सम्राट्' या 'महाराज' का सार्टिफिकेट लेने लगे। पुरोहित लोग दक्षिणा ले-लेकर उन्हें राजसूय यज्ञ में "महाराज" और अश्व-मेध में "सम्राट्" घोषित करने लगे। आज भी लक्षावधि विद्वान्

यही समझते हैं कि यज्ञ आध्यात्मिक होते थे, पर वे प्रारम्भ में सर्वथा राजनीतिक ही होते थे। पीछे पुराणों के काल में तो यज्ञ स्वर्ग के सर्वाधिक साधन बन गये और सर्वसाधारण की छोटी-बड़ी सभी इच्छायें भी यज्ञ द्वारा पूर्ण होने लगीं। इन यज्ञों ने पुरोहितों की नई जाति भी बनायी और उनका महत्त्व भी बढ़ा दिया। उन्हें यज्ञों में सोना-चांदी, हाथी-घोड़े और बड़े बड़े दान दिये जाते थे। पीछे तो इन यज्ञों में बूचड़खाने का वह कुत्सित दृश्य उत्पन्न हुआ कि जिसके नाम मात्र से रोमाञ्च होता है। एक-एक यज्ञ में १०-१० हजार पशु वध किये जाने लगे। यहाँ तक कि यज्ञ में मजाक करने के लिये वेश्यायें तक भी रखी जाने लगीं। और यजमान-पत्नी को तो अश्वमेध यज्ञ में यज्ञ के घोड़े के साथ सहवास भी करना पड़ता था। पुराण में एक ऐसी भयानक घटना का वर्णन है कि एक राजा की पत्नी को इस भीषण कार्य के करने से प्राण गंवाना पड़ा था।

इन यज्ञों ने देवताओं की धारणाओं में भी अन्तर डाल दिया। वेद का 'रुद्र' जो वास्तव में वायु का नाम था, 'गिरीश' या 'नीलकण्ठ' बन गया। मण्डूक उपनिषद् में वर्णित अग्नि की सात जिह्वायें—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा आदि शिवकी पत्नियां कल्पित की गयीं। केनोपनिषद् की उमाहैमवती, जिसने इन्द्र को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था, शिव की पत्नी कल्पित की गई। शतपथ ब्राह्मण में असुरों को नाश करने वाले विष्णु को भी महत्त्व मिल गया, जो वास्तव में सूर्य का नाम था और मेघों को छिन्न-भिन्न करता था। परन्तु इस काल तक भी

देवकी पुत्र कृष्ण की देवताओं में गणना न थी—वह छान्दोग्य उपनिषद् (३ । १७ । ६) में केवल आंगिरस का एक शिष्य बताया गया है।

धीरे-धीरे इन पाखण्ड पूर्ण विधानों के प्रति लोगों में अश्रद्धा होने लगी। खास कर क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के इन बढ़ते हुए अधिकारों को रोकना चाहा। उन्होंने उपनिषद्-तत्त्व निकाले, और कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड को प्राधान्य दिया। उन्होंने यज्ञ की निन्दायें कीं और ब्राह्मणों से अपनी ब्रह्मविद्या को छिपाकर रखा। धीरे-धीरे ब्राह्मणों और क्षत्रियों में बहुत देर तक द्वेष और झगड़े चलते रहे, जिनका आभास हम परशुराम के क्षत्रिय-द्रोह में पाते हैं। इसके बाद दार्शनिकवाद ने देवपूजा के पाखण्ड को रोका, और तात्त्विक विधि से विचार बुद्धि को परिमार्जित करने की चेष्टा की। परन्तु हिन्दू-जाति की जड़ में जो अन्धविश्वास फैल गया था—लाखों दुर्बल-चित्त लोग उसके शिकार तो बने ही रहे, और उन्हें अधिकाधिक फंसाने को धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र बनाये गये। इन सब में ऐसे विधान थे जिनके सम्बन्ध में अक़्ल को दखल देने की किसी को जरूरत न थी। इनमें बहुत से व्रत, बहुत-सी पूजायें, बहुत प्रकार के जप-तप अनुष्ठान वर्णन किये गये, जिन्हें तन्त्रग्रन्थों ने बहुत उत्तेजना दी। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण के एक से एक बढ़कर दूषित और मोहक उपचार वर्णन किये गये। सैकड़ों वर्ष तक तान्त्रिक लोगों ने ऐसे-ऐसे रोमाञ्चकारी अत्याचार समाज पर किये कि जिन्हें सुनकर ही प्राण थर्रा जाते हैं।

अन्त में बौद्ध-धर्म ने उत्पन्न होकर इस अन्धकारपूर्ण अवैज्ञानिक हिन्दू-धर्म का ऐसा विरोध किया, ऐसा धर्म-विद्रोह किया कि समस्त प्राचीन वैदिक धर्म छिन्न-भिन्न हो गया। बौद्धों और ब्राह्मणों में जो भयानक संघर्ष मसीह की प्रारम्भिक शताब्दियों में चला, उसका आभास हमें पुराणों में बहुत कुछ मिलता है। कुछ इतिहास भी इस पर प्रकाश डालते हैं। यह विषय हमारी इस आलोचना का नहीं, हमें तो यह कहना है कि बौद्धों पर जब दुवारा हिन्दू धर्म ने विजय पायी तव वह प्राचीन वैदिक धर्म से च्युत होकर एक नया ही धर्म बन गया, जिस पर बौद्ध धर्म की जबरदस्त छाप थी। इस नवीन हिन्दू-धर्म में प्राचीन धर्म से दो प्रधान अन्तर उत्पन्न हो गये; एक तो सिद्धान्त का, दूसरा आचार का। वैदिक धर्म तत्त्वों के देवताओं का धर्म था और वह सर्वोपरि एक अजन्मा, अकाय परमेश्वर को मानता था। पौराणिक मत में वे भौतिक देवता मूर्तिमान् स्वीकार किये गये थे और उनके ऊपर तीन नये देवताओं की कल्पना की गयी थी जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये तीनों काल्पनिक देवता एक ही परमेश्वर के सृष्टि-उत्पादन, पालन और संहार इन तीन कार्यों के पृथक-पृथक देवता थे। वास्तव में यह हिन्दू त्रैकत्व बौद्ध त्रैकत्व की नक़ल थी।

यह हुई सिद्धान्त-भेद की बात। अब आचार-भेद की सुनिये। आचार-भेद की दृष्टि से सब से प्रमुख बात इस युग में मूर्ति-पूजा थी। वैदिक धर्म अग्नि में होम करने का धर्म था, जिसे ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक हिन्दू ब्राह्मण, सद्गृहस्थ और राजा करते रहे।

वे इस समय तक मूर्तिपूजा को नहीं जानते थे। ईस्वी सन् के उपरान्त बुद्ध की मृत्यु के बाद, बौद्धों ने अपने पतनकाल में सर्व-प्रथम एक स्त्री-समाधि पर स्तूप बनाया और उसकी पूजा की। यह वास्तव में स्तन का चिन्ह था। उन्हें चिढ़ाने को हिन्दुओं ने शिवलिङ्ग स्थापन किया। यदि आप बुद्ध गया में जायं और वहाँ हजारों छोटे-छोटे शिवलिङ्ग और छोटे-छोटे स्तूप तथा बौद्ध-समाधि-चिह्न देखें, तो आप समझ जायंगे कि शैवों और बौद्धों के संघर्ष कितने भयावह हुए होंगे।

वर्तमान मनुस्मृति, जो बौद्ध काल में बनाई गई थी, मूर्तिपूजा या त्रिदेव की कुछ भी चर्चा नहीं करती। परन्तु वह पुजारियों के प्रति घृणा और तिरस्कार अवश्य ही प्रकट करती है। इसमें सन्देह नहीं कि जब यह स्मृति बन रही थी, मूर्तिपूजा का प्रचार होने लगा था। पर उच्च कोटि के मनुष्य उससे घृणा करते थे। परन्तु यह अद्भुत रीति दृढ़ता से बढ़ती ही गयी, और हिन्दू विधानों में प्रधान चीज हो गयी। अब अग्निहोत्र एक अतीत वस्तु बन गया था। जब कुछ दिन बाद बौद्धों ने पुरुषाकार बुद्धकी प्रतिमा बना कर उसकी पूजा प्रारम्भ की, तब हिन्दुओं ने विष्णु और अन्य देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा का प्रचार किया। इन तमाम देवताओं का ज्ञान मसीह की प्रथम शताब्दि में मनु के रचियता को नहीं था। परन्तु छठी शताब्दि में कालि-दास को सब का ज्ञान था, और उसने अपनी रचनाओं से इन देवताओं पर अमरत्व की सच्ची मुहर लगा दी थी। निस्सन्देह उसके समय में यह जातीय विचार हो गया था।

जब देवताओंकी पुरुषाकृति में कल्पना की गयी तब स्त्रीरूप में देवियों की कल्पना क्यों न की जाती ! यद्यपि यह माना गया है कि देवता अजर अमर हैं, फिर भी यह किसी ने आज तक न विचारा कि फिर देवताओं की स्त्रियां क्यों बनायी गयीं। ब्रह्मा का सम्बन्ध सरस्वती से किया गया, क्योंकि ऋग्वेद का ब्रह्मन् स्तुति का देवता और 'सरस्वती' सूक्तों की देवी थी। विष्णु का सम्बंध लक्ष्मी से किया गया जिसका कहीं भी पता न था, पर अन्न-धन की स्वामिनी मान ली गई थी। केनोपनिषद् की 'उमा' शतपथ की 'अम्बिका' जो रुद्र की बहिन कही गई है, और मुण्डकोपनिषद् की काली, कराली आदि अग्नि की सातों जिह्वाएं शिव रुद्र की पत्नी बनाई गईं। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित देवकी-पुत्र कृष्ण, जो आंगिरस के शिष्य थे, ईश्वरावतार माने जाने लगे। जैसे-जैसे कृष्ण देवता की भांति प्रसिद्ध होते गये, वैसे-वैसे उनकी ग्वालनों के साथ नाच-रङ्ग की कहानियां भी बढ़ती गईं।

प्रोफ़ेसर भाण्डारकर ने बताया था कि महाभाष्यकार ने भी कृष्णको अवतार माना है। यह ग्रन्थ ईसा के प्रथम दूसरी शताब्दि का है। विक्रमादित्य और उड़ीसा के केशवी राजाओं के काल में भी शिव की पूजा बहुत बढ़ी। उनकी पत्नी के सम्बन्ध में भी बहुतसी कहानियां गढ़ी गयीं। शतपथ ब्राह्मण में दक्ष पार्वती के एक यज्ञ करने का उल्लेख है, परन्तु वहां सती के अग्निदाह का कोई उल्लेख ही नहीं। वास्तव में यह सब कालिदास की प्रभाव-शालिनी कविता का स्थायी प्रभाव था। पुराणों में वेद का वह 'इन्द्र' जो सोम पीने वाला और युद्ध में आर्यों का सहायक तथा

अनार्यों और दस्युओं का विध्वंसक था, स्वर्ग का विलासी राजा बन गया है। स्वर्ग के भड़कीले वर्णन को पढ़कर आश्चर्य होता है। असंख्य अप्सराओं, हाथी, रथ, सारथी, पत्नी और नाचने-गाने वाले गन्धर्वों से वह सदा घिरा रहता है, तथा नाच-रङ्ग में मग्न रहता है। स्वर्गीय वेश्यायें वहां स्वच्छन्द रीति से आती हैं। यह इन्द्र पद कठिन तपस्याओं से चाहे जो ले सकता है। फलतः बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यह पद पाने को तप करते हैं। तब इन्द्र उन स्वर्गीय वेश्याओं को लुभाकर उनका तप भङ्ग करने को भेजता है। ऐसी वेश्याओं से व्यभिचार करके अनेक ऋषियों ने अनेक प्रसिद्ध सन्तानें उत्पन्न कीं, जिनमें एक अमर सन्तान शकुन्तला भी है।

वह बहुधा असुरों से भयभीत रहता है और त्रिदेव से सहायता मांगता है, पर वे स्वयं कभी सहायता नहीं करते—सिर्फ़ देवताओं को धीरज देते और युक्तियां बताते हैं।

इस प्रकार देवताओं के मानने से जो धर्म या सम्प्रदाय बने, उन्हें प्रसिद्ध इतिहास विलसन साहब ने गिन कर बताया है कि वैष्णवों के १९ सम्प्रदाय, शैवों के ११, शाक्तों के ४ और इनके सिवा और बहुत से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय वास्तव में बौद्ध सम्प्रदाय का अनुकरण है। विष्णु की पूजा भी बुद्ध-पूजा का अनुकरण है, और श्रीकृष्ण के गोपियों के साथ विहार का वर्णन तो महाभारत भर में कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

यह हम प्रथम कह चुके हैं कि मनुशास्त्र, जो ईसा की प्रथम

शताब्दि का ग्रन्थ है,-मन्दिर के पुजारियों को क्रोध के साथ मदिरा और मांस बेचने वालों के तुल्य कहता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छठी शताब्दी तक मन्दिरों और मूर्तियों का बहुत सत्कार बढ़ गया था। यह केवल भारतवर्ष में ही नहीं था, प्रत्युत समस्त पृथ्वी की सभ्य जातियों में था। छठी और सातवीं शताब्दि के जितने ग्रन्थ हमें उपलब्ध होते हैं उनमें हमें प्राचीन यज्ञों का कोई भी ज़िक्र नहीं मिलता। राजा लोग अलबत्ता खास यज्ञ करते थे। वैश्य लोगों को प्रथम अपने घरों में होमाग्नि रखने और इच्छानुसार देवपूजा करने का अधिकार था। अब पूजा का स्थान अग्नि के स्थान पर मन्दिर हो जाने से पुजारियों के अधिकार बहुत बढ़ गये और धूम-धाम के उत्सव तथा भड़कीली सजावटों ने सर्व-साधारण के ध्यान को इनकी तरफ़ बहुत कुछ आकर्षित किया। कुछ ही शताब्दियों में समस्त हिन्दू-जाति का धन इन मन्दिरों में एकत्रित हो गया। राजाओं ने भूमि और धन का बे-अन्दाज़ दान मन्दिरों को दिया। भारत के बड़े-बड़े नगर मन्दिरों तथा मूर्ख पुजारियों से भर गये। सन् ७१२ ई० में जब मुहम्मद-बिन-क़ासिम ने राजा दाहिर को परास्त किया तब उसे सिन्ध (हैदराबाद) के एक मन्दिर से ४० देगें तांबे की भरी हुई मिली थीं जिनमें १७२०० मन सोना भरा था और जिसका मूल्य १ अरब ७२ करोड़ रु० होता था। इसके अतिरिक्त ६००० मूर्तियां ठोस सोने की थीं, जिनमें सबसे बड़ी का वज़न ३० मन था। हीरा, पन्ना, मोती, मानिक इतना था जो कई ऊंटों पर लादा गया था। महमूद गज़नवी ने ११ वीं शताब्दि के प्रारम्भ में नगरकोट के मन्दिर

को लूटा और उसमें से ७०० मन अशर्फ़ी और ७०० मन सोने-चांदी के बर्तन, ७४० मन सोना, २००० मन चांदी और २० मन हीरा-मोती लूट में मिले थे। इसी साहसी योद्धा ने आगे बढ़कर गुजरात सोमनाथ का वह प्रसिद्ध मन्दिर लूटा था जिसमें अनगिनत रत्नजटित ५६ खम्भे लगे थे और मूर्ति के ऊपर ४० मन वज़नी ठोस सोने की जञ्जीर से घण्टा लटक रहा था। इस लूट की सम्पदा की कोई गणना ही न थी। यह हिन्दुओं के मन्दिरों और उनके पुजारियों का संक्षिप्त वर्णन है।

बुद्धिमान भाइयो, मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या धर्म भी व्यवसाय की वस्तु है? क्या धर्म बेचा और ख़रीदा जा सकता है? क्या यह भण्ड पाखण्ड नहीं, कि धर्म को एक आदमी पुण्य समझे और दूसरा उसे पैसा पैदा करने का ज़रिया?

आप सारे हिन्दुस्तान में घूम जाइए, धर्म के व्यवसाइयों की सर्वत्र भरमार है। इन व्यवसाइयों की करोड़ों की आय को देख कर आप कलेजा थाम कर बैठ जायँगे। चाहे और किसी रोज़गार में नफ़ा हो या नुक़सान, पर इसमें नफ़ा ही नफ़ा है। अमीर और ग़रीब लोग, अन्धों और कुबुद्धों की भाँति, अपनी गाढ़ी कमाई धर्मखाते लगाते हैं। हज़ारों मन्दिर, हज़ारों क्षेत्र और हज़ारों ठाकुरद्वारे - न जाने कितनी और ऐसी ही संस्थाएँ—इस खाते में खोली गई हैं, और उनका करोड़ों रुपयों का अबाध व्यापार चल रहा है!

आप जाइये प्रयाग के गङ्गा-सङ्गम पर। फूल-बताशे वाला कहता है—एक पैसे के फूल चढ़ा कर पुण्य लूटो। दूध वाला कहेगा

एक पैसे का दूध चढ़ा कर पुण्य लूटो। पर ये लोग स्वयं न एक फूल, न एक बूँद दूध ही चढ़ाते हैं। या तो इन्हें पुण्य लूटने की अपेक्षा पैसा लूटना अधिक प्रिय है और या ये जानते हैं कि इसमें पुण्य-उन्य कुछ नहीं, कोरा ढकोसला है।

हम त्रिवेणी-स्नान को गए। ये लोग डाकुओं और शिकारी कुत्तों की भाँति पीछे पड़ गए। दूध चढ़ाइए गङ्गा माई पर फूल-बताशे चढ़ाइए यजमान। एक दूध वाला गङ्गा में घुस कर हमारे पास ही आगया और स्नान में बाधा डाल कर बोला—दूध, चढ़ाइए, महाराज!

हमने गुस्सा पी कर कहा—इससे क्या होगा?

"पुण्य होगा—गङ्गा में दूध चढ़ाना हिन्दू धर्म है।"

हम ने कहा—चढ़ा दो।

उसने ज़रा सी लुटियामें दूध उलटकर कहा–कितना,यजमान!

हमने कहा—उसमें है ही कितना, सब चढ़ा दो।

"दो सेर है बाबू!"

"सब उलट दो।"

बदनसीब ने सारा दूध गङ्गा में बहा दिया और निश्चिन्त हो घाट पर बैठकर हमारे स्नान की प्रतीक्षा करने लगा। जब हम निवृत होकर चलने लगे तो बोला—पैसे दीजिए यजमान?

"पैसे कैसे?"

"दूध चढ़ाया था न।"

"फिर बुरा क्या किया था?"

"तब पैसे दीजिए।"

"पैसे क्यों दें ?"

"आप के कहने से दूध चढ़ाया था।"

"हमारे कहने से पुण्य ही तो किया ? हर्ज क्या है ?"

"परन्तु आपके नाम का चढ़ाया गया था।"

"अपने नाम का तुमने क्यों नहीं चढ़ाया ? क्या तुम हिन्दू नहीं हो ?"

"मैं ब्राह्मण हूँ।"

'यदि तुम चढ़ाओ तो पुण्य नहीं होगा ?"

"होगा क्यों नहीं।"

"फिर पुण्य लूटो। पैसे क्या करोगे ? क्या पैसे पुण्य से भी बढ़ कर हैं ?"

हम चल दिये और वह घबरा कर पीछे दौड़ा, बोला—महाराज, पुण्य आप लीजिए, मुझे तो पैसे दीजिए।

"क्यों, क्या पुण्य से तुम्हारा पेट भर गया है ?"

हम और आगे बढ़ गए, तब उसने रास्ता रोका। अन्त में पुलिसमैन को बुला कर हमने उसका विरोध किया।

आप कहेंगे, चार पैसे के लिए ग़रीब को ठग लिया, पर ये जो पीढ़ियोंसे चार-चार पैसे ठगते चले आरहे हैं, इसका क्या जवाब है ?

प्रयाग में जाइये—काशी, अयोध्या—जी चाहे जहाँ जाइए। उत्तर, दक्षिण में जहाँ भी तीर्थ हैं, धर्म-व्यवसाइयां को अतिशय दुष्ट, निर्लज्ज, बेईमान, धूर्त, पाखण्डी और गुण्डे पावेंगे।

यदि आपने काशी और गया के पण्डों की गुण्डागिरी देखी है, तो आप समझ जायँगे।

तमाम भारतवर्ष में मिला कर १,५०० से ऊपर प्रसिद्ध तीर्थ हैं, जिनमें अनगिनत मन्दिर और बेशुमार देवता बैठे-बैठे यात्रियों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इन तीर्थों में प्रति वर्ष लगभग ५ करोड़ यात्री पहुँचते हैं और डेढ़ अरब से ऊपर धन जनता का इस मध्ये खर्च होता है, जिसमें से १० करोड़ के लगभग मन्दिरों महन्तों और पुजारियों के पेट में जाता है!

इन में बहुत से पुजारी और महन्त राजा की तरह वैभव से रहते हैं। उनके हाथी-घोड़े महल, ठाठ-बाट सब हैं। बहुतों को राजा के अधिकार तक मिले हुए हैं। इनकी आमदनी अबाध है। ये सोलह आने इस धन के स्वामी हैं, जो देवता को चढ़ाया जाता है। ये लोग बहुधा वेश्यागामी, परस्त्रीगामी, लुच्चे-पाखण्डी और कुपढ़ हैं। दक्षिण के मन्दिरों में देवदासियों की घटना जिसने सुनी है, वह इस बात पर बिना अफ़सोस किये नहीं रह सकता कि धर्म के नाम पर व्यभिचार का समर्थन कितना गर्हित है! और भी बहुतेरे मन्दिर और सम्प्रदाय व्यभिचार की प्रवृत्ति को प्रश्रय देते हैं। वाममार्ग और चार्वाक सम्प्रदाय के सिद्धान्त जगत्-व्यापक हैं। वल्लभ सम्प्रदायका बहुतसा भण्डाफोड़ स्वामी ब्लाकटानन्द और बम्बई में चलाए हुए महाराज लाइबिल केस में बहुत कुछ हो गया है।

वल्लभ सम्प्रदाय में शिष्यको यह उचित है कि अपनी प्रत्येक भोग्य वस्तु को गुरु के समर्पण करे। इस सम्प्रदाय के ९ भाव प्रसिद्ध हैं। सुनिये कैसे मजेदार हैं :—

१—सब तरह केवल गुरु का आसरा पकड़ना।

२—श्रीगुरु की भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है।

३—लोक-लाज तथा वेद-शास्त्र की आज्ञा तज, गुरु की शरण आना।

४—देव और गुरु के सन्मुख नम्र रहना।

५—अपने आपको पुरुष नहीं किन्तु वृन्दावन की गोपी समझना।

६—नित्य गुसाईं जी के गुन गाना।

७—गुसाईं जी के नाम का महत्व बढ़ाना।

८—गुसाईं जी जो कहें या करें, उसी पर विश्वास करना।

९—वैष्णवों का समागम और सेवा करना।

इन नौ नियमों में जो गुप्त भेद हैं, वह तो विचारशील पाठक समझ सकते हैं। पर दिमाग़ को गुलाम करने के लिए इस सम्प्रदाय की पुस्तकों में और भी विचित्र बातें लिखी गई हैं। जैसे—

"तन, मन, धन गुरु जी के अर्पण!"

"जो कोई गुरु और भगवान में भेद रक्खे, वह पक्षी बने!"

"जो गुरु की बात जाहिर करे, वह तीन जन्म तक कुत्ता बने!"

पाठक सोचें कि उपरोक्त नियम स्त्री शिष्याओं के लिए कैसे भयानक हैं!!

व्यभिचार के समर्थन में सुनिये क्या लिखा है:—

"..........इसलिये ईश्वर और गुरु की सेवा अवश्य करनी चाहिये।.........पराई वस्तु भोगने का दोष तो सृष्टि को लगता है। ईश्वर के लिये तो कुछ पराया है ही नहीं। इस लिये व्यभिचार का दोष ईश्वर ने सृष्टि को ही दिया है। अज्ञानी

कहते हैं कि कोई पुत्र पुत्री पिता से कहे कि मैं तुम्हारी स्त्री हूँ, इसमें कितनी अनीति है। इसलिए ईश्वर के साथ जार-भाव की प्रीति रखने वाले भी अधर्मी हैं। इसमें यह बात सोचने के योग्य है, कि गोपियों ने जो कृष्ण के साथ जार-भाव की प्रीति की थी, तो क्या उन्होंने अधर्माचरण किया था?........"

इस सम्प्रदाय की और भी गन्दी आज्ञा का नमूना सुनिए:-

"श्री० स्वामी जी ने अपने शरीर से करोड़ों सखी प्रकट कीं जिनके नाम ललिता, विशाखा आदि हुए। जो सुन्दर जार कर्म में अत्यन्त चतुर थीं, उन्हें ललिता कहते थे और जो उल्टे आसन (!!!) से जार-कर्म कराने में चतुर थीं उन्हें विशाखा... ... !!!"

एक वार 'भारत-सुदशा-प्रवर्तक' नामक मासिक पत्रमें स्वामी व्लाक्टानन्द ने एक पत्र-व्यवहार छपाया था। पाठकों के ज्ञानार्थ उसका मनोरञ्जक उद्धरण हम यहाँ देते हैं:—

"जानना चाहिए कि वल्लभ सम्प्रदाय के महापुरुषों ने भारत-वर्ष के देशोद्धार का एक महामन्त्र निर्धारण किया था। हमारे पूज्य-पाद गुरुवरों ने उस मन्त्र का जप सिखाया था और हजारों पुरुष ही नहीं, वल्कि इस देश की स्त्रियाँ भी दीक्षित बन गई थीं। उस पवित्रमन्त्र में जो अद्भुत शक्ति थी, उससे लाखों कुलाङ्गनाओं का उद्धार होता था और हो रहा है। मन्त्र का शुद्ध पाठ इस प्रकार है—'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण!' मुझे भी गुरुभक्ति के अनुरोध से अपने गोलोकवासी स्वामियों की महिमा प्रकाश करने का उत्तेजन हुआ और मेरी वह भक्ति इतनी दृढ़ होती गई

कि मैंने तीन पुस्तकें तैयार कीं—(१) वल्लभकुल-चरित्र-दर्पण (२) वल्लभ-कुल-दम्भ-दर्पण, और (३) वल्लभकुल-छल-कपट दर्पण नाटक। इनका गोला उड़ने से 'कान फूकागढ़' में आग लग गई और गद्दी पर श्री १०५ गोवर्धनलाल जी महाराज ने अपने भण्डारी को भेजा। उसने यहाँ आकर एक चिट्ठी हमारे पास अपने नौकर के हाथ भेजी, जिसका अविकल उद्धरण यहाँ प्रकाशित करते हैं। (सही) ब्लाक्टानन्द।"

"स्वस्ति श्री० सर्वोपमा स्वामी ब्लाक्टानन्द जी जोग लिखी इलाहाबाद से भंडारी हरविलास राय का भगवत स्मरण बाँचना। आगे मैं यहाँ खास तुम्हारे साथ मिलने के लिए आया हूँ और यहाँ पर गोवर्धननाथ के मन्दिर में उतरा हूँ। श्री टिकेत १०८ श्री० गोवर्धनलाल जी महाराज ने मुझे भेजा है कि तुमने ये जो तीनों पुस्तकें छापी हैं—(१) वल्लभ-कुल चरित्र-दर्पण, (२) वल्लभ कुल-दम्भ दर्पण, (३) वल्लभ कुल-छल-कपट-दर्पण—सो इन कुल वातों का गुप्त भेद हमारे महाराज और अन्य स्वरूपों का तुम्हें किसने बताया? धर्म से कहो, क्योंकि तुम हमारे मित्र हो। यदि फर्ज़ कर लिया जाय कि ये बातें सच्ची भी हैं, तो भी ये गुरु के घर की बातें तुम्हें लिखनी उचित नहीं थीं। ख़ैर, आदमी से भूल हो जाती है, अब आप कृपा करके उन लोगों का नाम लिखो, जिन्होंने इस गुप्त चरित्र का भेद दिया है और अब यह भी लिखो कि आपकी मन्शा क्या है। हम सब तरह तैयार हैं। हमारे महाराज की यही आज्ञा है। मिती मँगशिर, सुदी ४-१९३४।

द० भण्डारी हरविलास"

"भण्डारी जी ने जिस काम की प्रेरणा की है, उसमें हमारी सम्मति है। द० मथुराप्रसाद पुजारी"

इस पत्र का रजिस्टर्ड उत्तर ता० १७।११।१९०७ ई० को १०८ महाराजाधिराज श्री० गोस्वामी जी को दिया गया, जिसका आशय यह था:—

"आप तथा वल्लभ-कुल के समस्त भूषण स्वरूप नीचे लिखी चार बातों को मानने की प्रतिज्ञा करो, तो मैं अपनी बनाई समस्त पुस्तकों को मिट्टी का तेल डालकर भस्म कर दूँ अथवा आप स्वयं जिस रीति से चाहो उसी रीति से अपने सामने उन्हें जला दो। आप के लाखों चेले भारत में हैं, वे भले ही इन बातों को धर्म समझते हों, परन्तु न्याय-दृष्टि से ये बातें सर्व-साधारण के विरुद्ध हैं।

(१) चेलियों को पुत्री समान समझो······धर्मव्यवहार रक्खो।

(२) विवाह में वेश्या-नाच बन्द कराओ—क्योंकि यह नीच कर्म शूद्रों ने निकाला है। यह कर्म गोवध की सहायता करता है।

(३) स्त्री-पुरुषों को मर्यादा में रक्खो। अर्थात् एक-दूसरे के हाथ का छुआ न खाय। परस्पर सहभोज बन्द कराना चाहिए।

(४) शिष्य तथा सेवकों को जूठा भोजन देना वाम-मार्ग का अनुकरण है, जो वैष्णव धर्म के सर्वथा विरुद्ध है ···· ···"

इस पत्र-व्यवहार से पाठक बहुत-कुछ समझ गए होंगे। इस सम्प्रदाय के बम्बई के मन्दिर के गुसाईंजी के सम्बंध में एक बार बम्बई के पत्र 'टाइम्स' ने लिखा था :—

"महाराजों की करतूत निंद्य है और इसीलिए वे प्रकाश्य में

नहीं आते। यदि वे कोर्ट में साक्षी देने को खड़े हों, तो उन पर उनके नीच कर्म के लिए पब्लिक की फटकार विना पड़े न रहे और इससे उनकी अज्ञानी शिष्य मण्डली में कमी होजाय ·····”

'आप अख्तियार' नाम का एक अखवार लिखता है:—

“हिन्दुओं के महाराज का मन्दिर एक छिनालवाड़ी, उनकी बैठक एक वेआबरू कुटनी का घर, उनकी दृष्टि वेश्यागमन, उनका अङ्ग नीच हविस का घर, और उनके शरीर का सब ठाठ वाट अपवित्रता, मैलापन और नीचतायुक्त है। उन्हें ईश्वरावतार की जगह राक्षस का अवतार कहना चाहिए।”

लोगों में मूर्खता यहां तक फैल गई है कि बहुत लोग तीर्थों में अपनी स्त्रियों तक को दान कर देते हैं और फिर कुछ रुपयों में मोल ले लेते हैं। यह बात स्त्रियों के लिए तो घोर अपमान की है ही, साथ ही इस मूर्खता का कभी-कभी मज़ेदार परिणाम निकलता है। पण्डे दान की हुई स्त्री को वापस देने से इन्कार कर देते हैं और बड़ा फ़जीता होता है।

जिस देश में ४० वर्ष के भीतर १७ अकाल पड़ें और उसमें डेढ़ करोड़ आदमी भूख से तड़प-तड़प कर मर जायँ; जिस देशमें प्रति वर्ष १० लाख, प्रति मास ८६ हजार, प्रति दिन २,८८०, प्रति घण्टे १२० और प्रति मिनट २ मनुष्य 'हाय अन्न! हाय अन्न!! करते मर रहे हों; जहाँ ५० लाख भिखारी टुकड़ा माँगते फिरें; जहाँ १० करोड़ किसान एक पेट खाएँ; वहाँ ये मुस्टन्डे धर्म-व्यवसायी, जिनसे देश को कुछ भी लाभ नहीं हो रहा है, प्रजा की गाढ़ी कमाई का ६० करोड़ रुपया प्रति वर्ष खा जायँ, जिनका

सिर्फ सूद ही १० वर्ष में पहाड़ के समान हो जाता है ! क्या देश इस पर विचार न करेगा ?

आप नाथद्वारे जाइए। देख कर अक़्ल हैरान हो जायगी। उस ऊजड़ और बीहड़ प्रांतमें कोई वस्तु दुष्प्राप्य नहीं। एक से एक बढ़िया खाद्य द्रव्य वहाँ आपको प्रस्तुत मिलते हैं। वह सब श्री-ठाकुर जी के भोग की बदौलत। चार पैसे में ऐसा दूध लीजिए जैसे रबड़ी—केसर, कस्तूरी, मेवा मिला हुआ। वहाँ केसर-कस्तूरी चक्कियों में पिसती है। गुजरात और दक्षिण के भक्तजन टूट पड़ते हैं। स्त्रियों की भक्ति की क्या कही जाय ! ठाकुरजी के भोग की कथा सुनिएगा ? एक बार किसी राजा ने एक बहुमूल्य मोती मूर्ति पर चढ़ाया—उसे पीसकर उसका चूना बनाकर ठाकुरजी को भोग लगा दिया गया। सवा लाख रुपयों का भोग लगना साधारण है। बीस मन दूध का भोग लगता है। फिर यह सब अनावश्यक खाद्य पदार्थ पंडे लोग बाजार में बेचते हैं और इस प्रकार यहाँ सदैव ही 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' का मामला बना रहता है। यहाँ पुजारीजी को अपनी राज्यसत्ता प्राप्त है। परन्तु विचारने की बात यह है कि किसी भूखे को यहां एक दाना अन्न भी नहीं मिलता।

काशी के और गया के पंडों और पुरोहितों का क्या कहना है! करोड़ों की सम्पदा के वे स्वामी बने हुए हैं।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य की सम्पत्ति भी असाधारण है ! हरद्वार, ऋषिकेश में भी लाखों के स्वामी अनेक धर्मव्यवसायी हैं। गरज कि भारत का कोई कोना ऐसा नहीं बचा, जो इन धर्म व्यवसायियों से खाली हो।

मैं एक बहुत साधारण उदाहरण आपके सामने रखना चाहता हूँ। यहाँ नई दिल्ली में,नई दिल्ली आबाद होनेसे प्रथम एक रद्दी सा पुराना हनुमान जी का मन्दिर था। नई दिल्ली की बस्ती होते ही इसकी तक़दीर चेत गई। गर्मियों में तो साधारण ही दशा रहती है, मगर सर्दियों में ज्योंही शिमला उतर आता है, मङ्गलवार को हज़ारों आदमियों का ठठ लग जाता है। मिठाई का ढेर लग जाता है। इनमें बड़े-बड़े पढ़े-लिखे ऊँचे दर्जे के ऑफ़ीसर लोग ही रहते हैं। स्त्रियों का दल बल सब से अधिक रहता है। यह अभी प्रारम्भ है, मैं समझता हूँ कि अति शीघ्र वह दिन आएगा, जब यह मंदिर बड़ी भारी जागीर बन जाएगा। मैंने इसके पुजारी को भी देखा है, जो अति साधारण आदमी है।

यह डेढ़ अरब धन का प्रति वर्ष अपव्यय देश के लिए कितना घातक है और इसके सदुपयोग की कितनी आवश्यकता है, यह विचारना चाहिए। आर्य समाज ने गुरुकुलों को खोल और उनके वार्षिकोत्सवों को धार्मिक मेले का रूप देकर हमारे सामने एक नई स्कीम रक्खी है। आज भारत के लगभग ७० लाख विद्यार्थियों पर जो इस समय स्कूलों, कॉलेजों में पढ़ते हैं, नई-नई विद्या सिखाने के लिये इन डेढ़ अरब रुपयों का सच्चा सद्व्यवहार हो सकता है। ये बच्चे किस महँगे ढङ्ग पर पढ़ते हैं और ग़रीब बच्चों का पढ़ना कितना कठिन है! क्या किसी मन्दिर के पुजारी या महन्त ने कभी किसी होनहार युवक को स्कॉलरशिप देकर किसी उच्च श्रेणी की शिक्षा प्राप्त करने में सहायता दी है?

हम यह मानते हैं कि कुछ महन्तों ने कुछ धर्मार्थ संस्थाएँ

खोल रक्खी हैं। जैसे बाबा काली कमली वाले के औषधालय और क्षेत्र, इसी प्रकार और अनेक मन्दिरों में पाठशाला आदि। पर वास्तव में ये सब सेवाएँ नगण्य हैं। बहुत करके तो धोखे की टट्टीं हैं, इन्हीं जालों पर कबूतर चुगते हैं और मुर्गियाँ फँसती हैं।

जिन्होंने कलकत्ते के मारवाड़ियों के धर्म-अड्डे गोविन्द-भवन का हाल सुना है, वे समझ सकते हैं कि इन धर्म-व्यवसायियों के जो भेद न खुलें वही अच्छे हैं।

हम ऐसे महन्तों को जानते हैं, जो यहाँ, दिल्ली से लड़कियाँ खरीद कर ले जाते हैं और उन्हें रखेली बनाते हैं। वेश्यागमन तो उनकी प्रसिद्ध बातें हैं। हम ऐसे महन्तों को भी जानते हैं, जिनकी २-२ धर्म-रखेलियां हैं।

क्या इन मन्दिरों, महन्तों, धर्म-व्यवसायियों से किसी के शरीर या आत्मा को लाभ होना सम्भव है? आपके घर बैठ कर एक आदमी पूजा-पाठ, जप कर जाय और आप उसकी मजदूरी दे दें, तो क्या उसका पुण्य आपको मिल जायगा? एक तो यही बात घोर सन्देहास्पद है कि ऐसे पूजा-पाठों में कुछ पुण्य है या नहीं। फिर हो भी तो वह करने वाले को मिलेगा या कुछ पैसे देकर आपको? क्या आपने काशी के दशाश्वमेध पर गोदान नहीं देखा, कि किस भाँति उसी ब्राह्मण की बछिया की पूँछ को छू-छूकर उसी को पैसा देने से लोग गोदान का पुण्य लूट लेते हैं? धर्म और भगवान् को इस प्रकार ठगना वास्तव में आश्चर्य का विषय है, नीच कर्म भी है।

एक समय था कि ईसाई लोग पादरियों के पाप क्षमा करते

और स्वर्ग के लिए हुण्डी भेजा करते थे। भारतवर्ष में भी मरे हुए इष्ट-मित्रों को आश्विन में खाना पहुँचाया जाता है, पर हम यह पूछते हैं कि नव्य भारत में भी क्या ये ढकोसले जीवित रहने चाहिए ? इनका नाश न होना चाहिए ?

हम कहते हैं कि इन धर्म व्यवसायियों का बिना नाश किए हिन्दू बच्चों की दिमागी गुलामी कभी दूर नहीं होगी। श्रद्धा और भक्ति एक बड़ी चीज जरूर है, परन्तु उसमें विवेक और विचार स्वातन्त्र्य का होना परमावश्यक है, अन्ध विश्वास और मूढ़ता के कारण आत्मा के विरुद्ध केवल दिमागी गुलामी से बचने के लिए आवश्यक है। हम धर्म के पुराने ढकोसलों को दृढ़तापूर्वक नष्ट कर दें। धर्म, गङ्गा में फूल और दूध चढ़ाना नहीं, महन्तों और गुसाइयों की सेवा करना नहीं, घन्टा घड़ियाल हिलाना नहीं, घन्टों मूढ़ की भाँति आँख बन्द करके बैठना भी नहीं।

नव्य हिन्दू युवको! इन मंदिरों का तुम्हें स्वरूप परिवर्तन करना पड़ेगा और इनके स्थान पर नवीन मंदिर बनवाने होंगे जहाँ तुम्हारे बच्चों को शिल्पकारी, सिपाही जीवन और नागरिक बनने की रीतियाँ सिखाई जावेंगी। प्रकृति का ठीक ठीक उपयोग ही सच्ची ईश्वर भक्ति है। जानवरों की भाँति राम नाम रटना और मन को कुटिलता का घर बनाये रखना घोर पाप है।

धर्म-पाखण्ड का नाश

धर्म मनुष्य जाति का दुर्धर्ष भयानक शत्रु है। यह लाखों खूंख़ार पशुओं से ज्यादा रक्तपिपासु और करोड़ों घृणित ठगों से ज्यादा ठग है। पशु पेट के गुलाम हैं, परन्तु मनुष्य इसका गुलाम है। पशु पेट के लिये खूनी स्वभाव का हो गया है परन्तु मनुष्य धर्मपाखंड के लिये। इस धर्म पाखण्ड के लिये मनुष्य हद दर्जे तक पतित हो गया है। दुनिया का कोई अपराध या कुकर्म ऐसा नहीं जो मनुष्य ने इस धर्म पाखण्ड के नाम पर साहस पूर्वक न किया हो। इस धर्म-पाखण्ड ने हज़ारों वीरों का लोहू पिया और लाखों कुलबालाओं को जिन्दा भस्म कराया है। इसने मनुष्यों के दिमाग़ों को गुलाम बना रक्खा है। इसका इतना भारी दब-दबा है कि बड़े बड़े वीर तेजस्वी, साहसी और तत्त्वदर्शी पुरुष भी इसके सन्मुख लाखों वर्षों से सिर उठाने का साहस नहीं कर सके। यदि हम मुस्तैद होकर इसका जड़मूल से नाश न करेंगे तो अवश्य ही हमारी जाति का नाश हो जायगा।

धर्म के कारण ही धर्म पुत्र युधिष्ठिर ने जुआ खेला, राज्य हारा, भाइयों और स्त्री को दाव पर लगा कर गुलाम बनाया, धर्म ही के कारण द्रौपदी को पांच आदमियों की पत्नी बनना पड़ा, धर्म के ही कारण अर्जुन और भीम के सामने द्रौपदी पर अत्या-

चार किये गये और वे योद्धा मुर्दे की भांति बैठे देखते रहे। धर्म ही के कारण भीष्मपितामह और गुरु द्रोण ने पांडवों के साथ कौरवों के पक्ष में युद्ध किया, धर्म ही के कारण अर्जुन ने भाइयों और सम्बन्धियों के खून से धरती को रंगा। धर्म ही के कारण भीष्म आजन्म कुंवारे रहे, धर्म ही के कारण कौरवों की पत्नियों ने पति से भिन्न पुरुषों से सहवास करके सन्तान उत्पन्न कीं, धर्म ही के कारण राम ने राज त्याग वनोवास लिया, धर्म ही के कारण दशरथ ने राम को वनोवास दिया, धर्म ही के कारण राम ने सीता को त्यागा, शूद्र तपस्वी को मारा, विभीषण को राज्य दिया, धर्म ही के कारण राजा हरिश्चन्द्र राज्य पाट छोड़ भंगी के नौकर हुए, धर्म ही के कारण बलि ठगे गये, धर्म ही के कारण कर्ण को अपने कुण्डल और कवच देने पड़े।

धर्म के कारण राजपूतों ने सिर कटाये, उनकी स्त्रियों ने अपने स्वर्ण शरीर भस्म किये, रक्त की नदियां बहीं। धर्म ही के कारण शंकर और कुमारिल ने, दयानन्द और चैतन्य ने कठोर जीवन व्यतीत किये।

आज धर्म के लिये हमारे घरों में तीन करोड़ विधवाएँ चुपचाप आंसू पीकर जी रही हैं। ७ करोड़ अछूत कीड़े मकोड़े बने हुए हैं। धर्म ही के कारण पाखण्डी, और गवर्गण्ड ब्राह्मण सर्व श्रेष्ठ बने हुए हैं। धर्म ही के कारण पत्थरों की भद्दी और बेहूदी अश्लील मूर्त्तियां तक पूजनीय बनी हुई हैं। धर्म ही के कारण पत्थर को परमेश्वर कहने वाले पेशेवर गुनहगार पुजारी लाखों स्त्री पुरुषों से पैरों को पुजाते हैं। धर्म ही के कारण भंगी

प्रातःकाल होते ही अपनी बहू बेटियों सहित औरों का मलमूत्र सिर पर ढोता है। धर्म ही के कारण आज हिन्दू, मुसलमान और ईसाई एक दूसरे के जानी दुश्मन बने हैं।

आज धर्म के लिये सिपाही युद्ध-क्षेत्र में सन्मुख के मनुष्य को मारता है, धर्म ही के कारण वेश्याएं अपनी अस्मत बेचती हैं। धर्म ही के कारण क़साई पशु-वध करता है। धर्म ही के कारण जीवहत्या करके मन्दिरों में बलि दी जाती है।

मैं जानना चाहता हूं कि सारी पृथ्वी में हजारों वर्ष से ऐसे उत्पात मचाने वाला, यह महाभयानक धर्म क्या वस्तु है। यह क्यों नहीं मनुष्य को मनुष्य से मिलने देता? क्यों नहीं मनुष्य को शान्ति से रहने देता? क्यों नहीं मनुष्य को आज़ाद होने देता? इसने शैतानकी तरह दिमाग़को गुलाम बना लिया है। जो मनुष्य जिस रंग में रङ्गा गया, उस के विरुद्ध नहीं सोच सकता—प्राण दे सकता है, यह इस प्रबल शक्तिशाली धर्म की करामात है।

वेश्या समझती है, क़सब करना ही हमारा धर्म है, विवाहित होकर गृहस्थ बनना नहीं। अछूत समझता है, औरों का मैला ढोना ही मेरा धर्म है, उत्तम वस्त्र पहिनकर उच्चासन पर बैठना नहीं। ब्राह्मण सोचता है सब से श्रेष्ठ होना ही हमारा धर्म है, किसी की भी प्रतिष्ठा करना नहीं। सिपाही समझता है जिसकी नौकरी करते हैं, उसके शत्रु का हनन करना ही हमारा धर्म है, दूसरा नहीं। पुजारी समझता है, इस पत्थर को सर्व-सिद्धिदाता भगवान समझना ही हमारा धर्म है इससे भिन्न नहीं। मुसलमान समझता है, कि क़ाफ़िर को क़तल करना ही हमारा धर्म है, दूसरा

नहीं। विधवा समझती है, मरे हुए पति के नाम पर बैठना और सब के अत्याचार चुप-चाप सहना ही उसका धर्म है इसके विपरीत नहीं। जल्लाद समझता है कि अपराधी को फांसी देना ही धर्म है, इसके विपरीत नहीं। गरज़, इस जादूगर धर्म के नाम पर पाप पुण्य, अच्छा बुरा जो कुछ मनुष्य को समझा दिया गया है, मनुष्य उस में विवश हो गया है, उससे वह अपने मस्तिष्क का उद्धार नहीं कर सकता।

इस धर्म को भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रीति से लोगों ने मनन किया। बहुत से लोगों ने उसे केवल आध्यात्मिक बताया। बहुतोंने शरीरके साथ भी उसका संसर्ग क़ायम किया। परन्तु जब से मनुष्य ने धर्म शब्द पहचाना, तब से धर्म के नाम पर—हत्या, पाखण्ड, छल-कपट, व्यभिचार, जुआचोरी, हरामख़ोरी, बेवक़ूफ़ी, ठगी, धूर्तता, अपराध और पाप सभी प्रशंसा और क्षमा की दृष्टि से देखे गये। इस धर्म का यहाँ तक बोलबाला हुआ कि धर्म के नाम से ऐसी बहुत सी चीजें बेची जाने लगी जिनका धर्म से कोई सम्बन्ध न था। नदियों में स्नान करना धर्म, चिउंटियों और कीड़ों को खाने को देना धर्म, कपड़ा पहनना धर्म. गरज़—चलना, फिरना, उठना, बैठना, सभी में धर्म का असर घुसड़ गया।

इस नकली, झूठे और निकम्मे धर्म का भाव भी बहुत ऊंचा चढ़कर उतरा। काशी और प्रयागमें लोग प्राण तक देते थे, परन्तु आजकल धर्मकी दर कूड़े कर्कट से भी गिरी हुई है। मन्दिरके पत्थर के सामने एक पाई फेंक देने से धर्म हो जाता है। किसी ख़ास नदी में एक गोता लगाने, बड़, पीपल के ३-४ चक्कर लगाने, तुलसी का

एकाध पत्ता चबाने, गाय का मूत्र पीने आदि से भी धर्म प्राप्त हो जाता है। एकाध दिन भूखा रह कर फिर भाँति भाँति के माल उड़ाने से भी धर्म हो जाता है। माथे पर साढ़े ग्यारह नम्बर का साइनबोर्ड लगाने से भी धर्म होता है। किसी पाखण्डी ब्राह्मण को आटा, दाल दे देने, कुछ खिला पिला देने, या किसी भिखारी को एकाध धेला पैसा दे देने से भी धर्म होता है।

रास्ते चलते किसी सिन्दूर लगे पत्थर को सिर नवा देने से भी धर्म होता है। अगड़म बगड़म कोई खास श्लोक जिसे कोई भी पाखण्डी बता सकता है जाप करने से धर्म होता है। नहाने से धर्म होता है, नंगे बैठकर और मेंढक की तरह उछल कर चौके में जाकर खाने से धर्म होता है। रात को न खाने से धर्म होता है। हाथों से बाल नोच लेने से, गन्दा पानी पीने से, मलमूत्र ज़मीन में गाड़ देने से धर्म होता है। मनों घी और सामग्री को अग्नि में फूंक देने से भी धर्म होता है।

अरे अभागे मनुष्यो! ज़रा यह भी तो सोचो—धर्म आखिर क्या बला है? यह धर्म है या धर्मपाखण्ड। तुम उसके पंजे में क्यों फंसे हो? जातियों की जातियों का इस धर्म संघर्ष में नाश हो गया, पर धर्म को मनुष्यों ने न पहचाना, बौद्धों ने सारी पृथ्वी को एक बार चरणों में झुकाया, पीछे उन्होंने रक्त की नदियां बहाईं। अन्त में नष्ट हुए। ईसाइयों ने भी मनुष्यों में हाहाकार मचाया। मुसलमानों ने शताब्दियों तक मनुष्यों को सुख की नींद न सोने दिया। धर्म, मनुष्य जाति के हृदय पर दुर्भाग्य बना खड़ा है। पर मनुष्य उस से सचेत नहीं होता, सावधान नहीं होता।

अंधविश्वास धर्म की जान है। अंधविश्वासी कभी सत्यता की खोज नहीं कर सकता। अंधविश्वास ने ही मनुष्य को धर्म नीति से फिसला कर रूढ़ियों का गुलाम बना दिया है। कुसंस्कार अंध-विश्वास का पुत्र है। जो अंधविश्वासी हैं वे, अवश्य ही कुसंस्कारी भी हैं।

एक समय था जब योग के चमत्कारों और तांत्रिक लोगों ने कापालिकों और महा ढोंगी योगियों का ऐसा आतंक देशमें व्याप्त कर दिया था कि उन की सत्ता सर्वोपरि होगई थी। आज भी योग के चमत्कारों के सम्बंध में करोड़ों मनुष्यों के विश्वास मज़-बूत है। मैं दृढ़ता पूर्वक कहता हूँ कि योग की विभूतियां और सिद्धियां बिल्कुल असाध्य और अव्यवहार्य्य हैं। और मैं विश्वास नहीं करता कि कभी भी पृथिवी पर कोई ऐसा मनुष्य हुआ होगा जो उन विभूतियों का जानकार हो। मनुष्य का मच्छर होजाना, या लोप हो जाना, पर्वताकार होजाना, आकाश में उड़ना, या दूसरी योनियों में चले जाना, मरकर जी उठना गप्प, झूठे, असम्भव और ढकोसले हैं।

क्या यह कम दुर्भाग्य की बात नहीं कि आज देश में हज़ारों ज्योतिष, भड्डरी, स्याने लोग मन्त्र, यंत्र, जप, पूजा पाठ, गंडे तावीज़ द्वारा भूत प्रेत, जिन उतारते और लोगों को ठगते हैं? ये लोग सिर्फ़ ठग और धूर्त ही नहीं हैं बल्कि भयानक अपराधी भी हैं। इन धूर्तों के अपराधों और दुष्टताओं के कारनामे हमें नित्य ही पढ़ने और देखने को मिलते हैं।

अत्याचार से अन्धविश्वास का बड़ा भारी दोस्ताना है, क्योंकि

अंधविश्वासी के पास युक्तियां नहीं होतीं। वे अपनी दुर्बलता को क्रोध में छिपाते हैं। धर्म के नाम पर कैसे भयानक अत्याचार संसार में किये गये हैं यह पाठकों ने इस पुस्तक के दूसरे खण्डों में पढ़ा ही होगा।

हत्याएँ भी धर्म हो सकती हैं इस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। परन्तु संसार की जातियां पशुओं के बलिदान को धर्म समझती रही हैं। मध्यकाल के ब्राह्मणों ने यज्ञों में पशुबलि दी और आज मन्दिरों में हज़ारों पशु उसी भांति काटे जाते हैं, और इसे धर्म समझा जाता है।

कुछ दिन पूर्व मैंने दशहरे के अवसर पर वैद्यनाथ धाम में जाकर हत्या का जो दृश्य मन्दिर में देखा था उसे मैं जीवन भर नहीं भूल सकता।

मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में आकर जो देखा उसे देख कर आँखें खुल गईं। मैंने अपनी आँखों से जीवित पशु का हनन इतने निकट से कभी नहीं देखा था; पर वहाँ सन्मुख मैंने देखा कि यथार्थ नाम खून की नदी बह रही है। इतना अधिक रक्त एकबारगी ही देखकर और ऐसा भयानक दृश्य देख कर मेरी पत्नी और बालक तो इस तरह भयभीत हुये कि मैंने समझा कि वे बेहोश होजावेंगे। मैं स्वयं भी बहुत विचलित हो उठा, पर तुरन्त मैं एक क़दम और आगे बढ़ गया और ग़ौर से वह अभूतपूर्व दृश्य देखने लगा।

मन्दिर का प्राङ्गण बहुत विशाल था। उसमें पचास हजार मनुष्य ख़ुशी से समा सकते थे। और उस समय पन्द्रह बीस

हज़ार से कम स्त्री पुरुष वहाँ न होंगे। हठात् वेग से खाण्डा पड़ता और धड़ रक्त का फव्वारा छोड़ता हुआ धरती पर तपड़ने लगता। सिर को मन्दिर के चबूतरे पर खड़ा हुआ पुजारी रस्सी के सहारे फुर्त्ती से ऊपर खींच लेता। पाँच आने पैसे, एक नारियल और कुछ पुष्प एक दौने में रखकर सिर के साथ पशु के स्वामी को और देने पड़ते तब यह स्वयं जाकर सिर को देवी की भेंट कर सकता था। वहाँ से उसे दौने में प्रसाद मिलता। वह बाहर आ कर अपने पशु का धड़ खींच कर एक ओर ज़रा हट कर बैठ जाता और उसकी खाल उधेड़ना शुरू करता। पंडे लोग भी जुट जाते हैं और वहीं उसका खण्ड खण्ड करके हिस्से बाँट लिये जाते हैं।

मन्दिर में चारों ओर यही बूचड़खाना फैला हुआ था। मेरे पैरों में मानों लोहे की कीलें जड़ दी गई थीं। मैं लगभग ८ या ८॥ बजे मन्दिर में घुसा और एक बजे तक जब तक कि वधिक अपना काम करता रहा, वहीं खड़ा रहा। मेरी पत्नी और साथी लोग हताश होकर एक तरफ़ हट कर बैठ गये थे। मैंने हिसाब लगा कर देखा; कुल मिला कर लगभग बारह सौ बकरे वहाँ मेरे सन्मुख काटे गये और तीन या चार भैंसे। भैंसो के सिर काटने, उनके तड़पने, उनके सिर को यूप में फंसाने का दृश्य अत्यन्त भयानक और राक्षसी था। मैं आज भी उस दृश्य को याद करके भयभीत हो जाता हूँ। यह अनिवार्य्य था कि एक ही प्रहार में सिर कट जाय और वह सिर धरती में न गिरने पावे।

मैंने मन्दिर की मूर्त्ति नहीं देखी। मैंने लौट कर स्नान किया

और धर्मशाला से सामान उठा स्टेशन की राह ली। उस पाप-पुरी में हम लोग अन्न-जल ग्रहण न कर सके।

देवीके मन्दिर का चबूतरा इतना ऊंचा था कि खड़े मनुष्य की गर्दन तक आता था। उसी के सामने एक काष्ट का यूप गढ़ा था जिसमें एक गढ़ा इस भाँति किया गया था कि उसमें पशुकी गर्दन फंसाकर एक छिद्र द्वारा लोहे के एक सींखचे से उसे अटका दिया जाता था। चबूतरे पर एक आदमी हाथ में एक छींके जैसी वस्तु रस्सी के सहारे पकड़े खड़ा था। वधिक ब्राह्मण था, और वह स्नान करके तिलक छाप लगाये स्वच्छ जनेऊ पहिने हाथ में खांडा लिए खड़ा था। प्रत्येक जीव की हत्या करने की उसकी फ़ीस एक आना थी। इकन्नियों की उस पर वर्षा हो रही थी, उसने अपनी धोती में एक पोटली बाँध रक्खी थी जिसमें वह उन इकन्नियों को डाल रहा था। लोग अपने-अपने पशुओं को कोई धकेल कर, कोई रस्सी द्वारा खींचकर और कोई मारता हुआ ला रहा था। मैंने भली भाँति से देखा कि प्रत्येक पशु अपनी असल मृत्यु को समझ रहा था और वह भय से कम्पित और अश्रुपूरित था। सब पशु आर्तनाद कर रहे थे और कटे हुये सिरों के ढेर और फड़कती हुई लाशों को देख कर मूर्छितसे होकर गिरे पड़ते थे। प्रत्येक आदमी की इच्छा पहिले अपना पशु कटानेकी थी और प्रत्येक व्यक्ति आगे बढ़कर अपनी इकन्नी वधिकके हाथमें थमा देना चाहता था। वधिक इकन्नी टेंटमें रखता और पशुके स्वामी पशुको यूपके पास धकेलते, वधिक का सहायक फुर्ती से उसकी गर्दन यूप में फंसाकर यूपके छेदमें लोहेका सरिया डालता और छींका उसके मुख पर लगा देता।

हत्या जब धर्म का अङ्ग है तो व्यभिचार क्यों न होगा ? दक्षिण के समस्त मन्दिर आज भी देवदासियों से भरे पड़े हैं, बचपन में इनके माता पिता इन्हें मन्दिरों में चढ़ा जाते हैं। वहां ये बड़ी होती हैं और अपने को देवता से विवाही समझती हैं। कुछ अति सुन्दर होती हैं और पंडे पुजारियों के व्यभिचार की सामग्री होती हैं, शेष देवदर्शनार्थ आये हुए यात्रियों की कामवासना को पूरा करती हैं। ये देवदासियां जगन्नाथ से लेकर दक्षिण के सभी मन्दिरों में नाचती हैं। मद्रासके चिंगलपट जिले के कोरियों में यह रीति है कि वे अपनी सबसे बड़ी, कहीं-कहीं पाँचवीं लड़की को किसी मन्दिर में दान करदेते हैं, जो मुरली कहाती हैं। तैलंग में उन्हें 'बसव' कहते हैं। अन्य प्रान्तों में उनके दूसरे नाम भी हैं।

शाक्त सम्प्रदाय का भैरवीचक्र पंच मकार आदि, जिनका मध्यकाल में बहुत जोर होगया था, धर्मव्यभिचार की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय था जहां जात-पांत और गम्यागम्य का विचार ही न था। जिन का यह मूल मन्त्र था—'मातृयोनिं परित्यज्य-विहरेत सर्व योनिषु'। इस मत का शङ्कराचार्य के काल में बड़ा भारी जोर था।

पुराणों में देवता और ऋषियों के व्यभिचारों को पवित्र और निर्दोष रूप दिया गया है। विष्णु ने वृन्दा के साथ उसके पति का रूप धर कर व्यभिचार किया, इन्द्र ने चन्द्रमा की सहायता से गौतम की पत्नी अहिल्या के साथ व्यभिचार किया, अनेक देवताओं ने कुमारी अवस्था में कुन्ती से व्यभिचार किया। इसी प्रकार विश्वामित्र के मेनका से, पाराशर के सत्यवती से, यहाँ तक कि

पशुओं तक से व्यभिचार करने के घृणास्पद उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं। श्री कृष्ण को एक आदर्श व्यभिचारी के रूप में हिन्दुओं ने उपस्थित किया है। इन सब बातों से हिन्दू समाज की भावना इस क़दर गन्दी होगई है कि कोई कवि, लेखक या नाट्य कार चाहे भी जितनी अश्लील रचना करे, या चेष्टा करे, यदि उस में राधा या कृष्णका नाम आजाता है तो वह प्रायः क्षमाके क़ाबिल मानी जाती है। और निर्दोष तो वह है ही।

तब वास्तविक धर्म क्याचीज़ है इस बात पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

मनुस्मृति कहती है कि धीरज, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध ये धर्म के १० लक्षण हैं। इन दशों में सिपाही का धर्म हिंसा तो नहीं आया। इस में सत्यासत्य की व्याख्या भी नहीं की गई। अब इस श्लोक में वर्णित लक्षणों को बुद्धि की कसौटी पर कस कर हम देखते हैं।

सब से प्रथम सत्य को लीजिये। सत्य धर्म का लक्षण है। मैं सत्य बोलने का व्रत लेता हूँ। मेरे पास १० हज़ार रुपये ज़मीन में अत्यन्त गोपनीय तौर पर गड़े हैं, उसका पता चलना भी सम्भव नहीं। हज़ार पांच सौ ऊपर भी मेरे पास हैं। एक दिन चोर ने गला आ दबाया। कहा—जो है रख दो, वरना अभी छुरा कलेजे के पार है। अब आप कहिये, क्या मुझे कह देना चाहिये कि इतना यह रहा और १० हज़ार यहाँ ज़मीन में गड़ा है? मेरी राय में ऐसा सत्य मूर्खता का लक्षण होना चाहिये। जब दुर्योधन की मृत्यु का समाचार धृतराष्ट्र ने सुना, तो उन्होंने पूछा—वह

भीम कैसा बली है जिस ने मेरे बेटे दुर्योधन को मार डाला, उसे मेरे सन्मुख लाओ, मैं उसे छाती से लगा कर प्यार करूँगा। तब कृष्ण ने उन के सामने लोहे की मूर्त्ति सरका दी, जिसे बलपूर्वक इस भाँति अंधे धृतराष्ट्र ने मसल डाला कि सचमुच यदि भीमसेन उनके हत्थे चढ़ गये होते तो उन की चटनी बन जाती।

इसी प्रकार और भी अनेक ऐसी बातें हैं कि जिनका सदुपयोग ही धर्म कहा जासकता है। महाभारत में विश्वामित्र ऋषिके चाण्डाल के घर में घुस कर कुत्ते का सूखा मांस चुराने की बड़ी मजेदार घटना है। जब ऋषि वह सूखी हुई टांग चुरा कर चलने लगे तब चाण्डाल ने जग कर और ऋषि को पहचान कर बहुत भला बुरा कहा। इस पर ऋषि तनिक भी न झेंपे, उन्होंने चांडाल को ऐसा आड़े हाथों लिया कि बेचारे की बोलती बंद होगई। उन्होंने कहा :"अरे ढीठ ! तू मुझे उपदेश देने का साहस करता है ! मैं जो कुछ करता हूँ उसे खूब समझता हूँ और मैं अवश्य करूँगा।"

जहां एक तरफ़ ऐसी कुत्सित और वीभत्स चोरी ऐसे बड़े महात्मा द्वारा की जाने पर भी वह दोष पूर्ण नहीं मानी गई, वहां हम महाभारत ही में एक दूसरी घटना पाते हैं।

शंख और लिखित दो भाई थे। शंख ज्येष्ठ था, दोनों ऋषि थे। दोनों के आश्रम पृथक् २ थे। लिखित भाई से मिलने उनके आश्रम में गये। भाई बाहर गये हुये थे। लिखित ने आश्रम से एक पका मधुर फल तोड़ा और खाने लगे। इतने ही में शंख आ गये। शंख ने देख कर कहा—अरे ! यह तुम ने क्या किया ? यह फल कहां से पाया ?

लिखित ने हँस कर कहा—"यहीं से तोड़ा !"

शंख ने चिंतित होकर कहा—"यह तो बुरा हुआ। अरे! यह तो चोरी हुई !"

लिखित ने व्याकुल होकर कहा—"क्या यह चोरी हुई ?"

शंख ने दुःखी होकर कहा—"निःस्संदेह ! तुम अभी राजा सुधन्वा के पास जाओ और दण्ड की याचना करो।"

लिखित उसी समय सुधन्वा की ड्योढ़ियों पर पहुँचे। ऋषि का आगमन सुनकर उन्होंने मन्त्रियों सहित द्वार पर आकर सत्कार किया और भीतर ले गये। कुशल पूछा, पूजा की और हाथ बाँध कर कहा, "ऋषिवर ! आज्ञा से कृतार्थ कीजिये।"

ऋषि ने कहा "राजन् हमने चोरी की है—हमें दण्ड दीजिये। उन्होंने सब घटना भी सुना दी। राजा ने सुन कर कहा—ऋषिवर ! राजा को अभियोग सुन कर अपराधी को, अपराध के गुरुत्व पर विचार करके, जैसे दण्ड देने का अधिकार है, वैसे ही उसे क्षमा करने का भी है। मैं आप को क्षमा करता हूँ। ऋषि ने कहा—"नहीं राजन्, मैं दण्ड की याचना करता हूँ।" तब राजा ने विवश हो राजनियमानुसार ऋषि के दोनों हाथ कटवा लिये। तब लिखित खून से टपकते दोनों कटे हुए हाथों को लिये भाई के पास जाकर बोले—भाई, मैंने राजा से दण्ड प्राप्त कर लिया है, अब आप भी क्षमा कर दीजिये।

यह छोटीसी हृदयको हिला देने वाली घटना इसबात पर प्रकाश डालती है कि अकारण एक फल भाईके बाग से बिना आज्ञा तोड़ कर खाना कितना गुरुतर अपराध है, और सकारण चांडाल

के घर से सूखा कुत्सित मांस चुराना भी अपराध नहीं, प्रत्युत कर्तव्य है।

मैं उदाहरण के तौर पर दान को लेता हूँ। इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि दाता त्याग करता है, और उसका दिया हुआ धन अपेक्षाकृत अधिक लोक सेवामें लग सकता है। परन्तु भारत-वर्ष में दिये हुए दान बहुधा तमोगुणपूर्ण होते हैं। उन्हें दाता लोग किसी संस्था को, किसी विद्वान् को, किसी गुणी को इस लिये नहीं देते कि वे उससे अपना विकास करें। उनके दान प्रायः अन्ध श्रद्धा या अन्ध कूप दान होते हैं। जैनियों ने करोड़ों रुपयों के दान देकर अपने साम्प्रदायिक मन्दिरों की प्रतिष्ठा की है। उसमें हीरे मोती की प्रतिमाएं और सोने चाँदी की दीवारें बनाई गई हैं। क्या मैं यह पूछ सकता हूं कि दिगम्बर, वीतरागी, सर्व त्यागी महात्माओं की मूर्तियों का इस ऐश्वर्य के प्रदर्शन से क्यों उपहास किया जाता है? क्या वे प्रतिमाएं मिट्टी की बनाकर चटाई की झोंपड़ी में नहीं पूजी जा सकतीं? वही जैनी जो दया धर्म को प्रधान कार्य समझते हैं और जिनके धर्म सम्बन्धी नियम बड़े कठिन, बड़े विकट और कष्टसाध्य हैं—और वे बहुत दर्जे तक उनका पालन भी करते हैं—और ऐसे लोग जो नित्य मन्दिर में जाते, भक्ति भाव से पूजा करते, व्रत उपवास भी करते हैं, परन्तु दूकान पर आकर धर्म को खूंटी पर रख देते हैं, दूकान पर झूठ बोलते हैं और निर्दयीपन करते हैं। वे चिउंटियों पर, कीड़े मकोड़ों पर तो दया दिखाते हैं, लाखों करोड़ों की सम्पत्ति धर्म खाते लगा देते हैं, पर किसी दरिद्र पावनेदार पर चार पैसे भी

नहीं छोड़ सकते। वे डिग्री करावेंगे, कुर्की लावेंगे, और उसके बर्तन बिकवाकर अपना पावना सूद सहित लेंगे। यह दया धर्म किस मतलब का है? इस दया धर्मसे जगत का,मनुष्य समाजका क्या उपकार होगा? इन हीरे पन्ने की मूर्तियों से, सुनहरी दीवारों से जगमगाते मन्दिरोंसे किसी का क्या भला होगा? यह धर्म लानत भेजने योग्य है—यह दया और श्रद्धा का भयानक दुरुपयोग है।

मारवाड़ी समाज ने कुछ उच्चश्रेणी के दाता और देशसेवक पैदा किये हैं। उन पर मारवाड़ी समाज को ही नहीं, प्रत्युत् देश भर को अभिमान है। परन्तु इन महाशयों के दान क्या सच्चे दान हैं? यह मैं मान सकता हूँ कि ये दान देश में जनता के काम आये हैं। पर जो लोग करोड़ों रुपये कमाने के ढङ्ग बराबर जारी रख कर उसमें से कुछ लाख दान कर देते हैं उनके दान कभी भी धर्मदान नहीं कहे जा सकते। ये सब आसुरी दान हैं। क्या एक मनुष्य का करोड़ों रुपये कमाने के साधनों का अपने व्यक्ति के लिये उपयोग करना धर्म है? क्या वे करोड़ों रुपये, लाखों मनुष्यों के परिश्रम का बेईमानी और धूर्तता से ठगा हुआ हिस्सा नहीं है? जो मिल मालिक हैं और जिनकी मिलों में हजारों मजदूर काम करते हैं उनकी भीतरी दशा देखने ही से दुःख होता है और पाप की कमाई की असलियत खुल जाती है। वे लोग, स्त्री, पुरुष और बच्चे जी तोड़कर, अस्वास्थ्यकर और अवैज्ञानिक परिश्रम करते हैं। स्त्रियों को प्रसव के सुभीते नहीं। उन्हें इतना कम वेतन मिलता है कि वे सुधरे हुये ढङ्गों पर नहीं रह सकते। यदि उनकी कमाई का हिस्सा एकत्र करने वाले करोड़पति घमंड

से उसे अपना धन न समझ दो चार लाख का दान न करके इन्हीं मजदूरोंका वेतन चौगुना करदें तो कहीं ज्यादा पुण्यके भागी हों। क्योंकि यह रुपया तो उन्हीं की कमाई का है। यदि वे न कमावें तो पूञ्जी के द्वारा कोई भी धनपति रुपया कमा नहीं सकता। उस पर उनका अधिकार है। परन्तु कैसे मजे की बात है कि वे कमाने वाले मजदूर लोग तो कुत्तों की तरह मैले कुचैले, भूखे नंगे और संसार के सब भोगों से रहित होकर जीवन व्यतीत करते हैं और उनकी कमाई का हड़पने वाले उनके रुपयों से सुनहरी दीवारोंके मन्दिर बनवाते हैं जिनमें हीरों और पन्नों की प्रतिमाएं रहती हैं।

अफ़सोस तो यही है कि इन स्वार्थी ठगों और लुटेरे अमीरों के दांतों में उँगली डाल कर ग़रीबों के हक़ के पैसे निकालने वाले अभी देशमें नहीं पैदा होते। सेठ मोटेमल जी ने एक लाख रुपया अछूतोद्धार को दिया, उन्हें धन्यवाद है। अख़बारों में मोटे हैडिंग छपते हैं। पर कोई सम्पादक यह नहीं पूछता कि यह रुपया देने में उन्होंने अपना कुछ त्याग भी किया है? उन्हें कुछ कष्ट भी इससे हुआ है? क्या उन्होंने अपनी रहने की कोठी बेचकर दिया है, या स्त्री के निकम्मे गहने बेच कर? या अपना अनावश्यक फ़र्नीचर बेच कर? हम तो देखते हैं कि सट्टेमें बीस लाख कमाया, एक लाख दे दिया। वाहवाही लूट ली।

अजी, मैं यह पूछता हूँ कि मैं डाका डाल कर, खून करके या और कोई जालसाजी करके कहीं से दस बीस लाख रुपया ले आऊं तो उसमें लाख पचास हजार रुपये दान कर देने से मुझे क्या धर्म नहीं होगा? मेरा पाप नष्ट हो जायगा या नहीं? यदि

नहीं होगा तो इन चालाक अमीरों के दान भी धर्म खाते नहीं समझे जावेंगे, और उनके अपराधपूर्ण आमदनी के जरिये कभी क्षमा की दृष्टि से नहीं देखे जावेंगे।

वड़े वड़े व्यापारियों के यहां, कलकत्ता, वम्बई और दिल्ली में एक धर्मादा खाता होता है। ये व्यापारी जितने रुपये का माल ग्राहकों को वेचते हैं उन से धर्मादा भी कुछ लेते हैं। यह यद्यपि उनकी गांठ का नहीं होता पर उसे स्वेच्छापूर्वक खर्च करने का उन्हें पूर्ण अधिकार होता है। और आप क्या कल्पना करते हैं कि यह रुपया किस काम में खर्च किया जाता है? वे वेईमान, धूर्त, अमीर उस से अपनी वेटी का व्याह करते हैं। मरे हुये माता पिताओं का कारज करते हैं। मैंने स्वयं ऐसे उदाहरण देखे हैं। यह धन लाखों रुपयों की संख्या में एकत्र हो जाता है।

एकवार महामनीषि मालवीयजीने कहा था कि हिन्दू जितना दान प्रतिवर्ष करती है उतनेमें १० यूनीवर्सिटियां चलाई जा सकती हैं। परंतु खोज करके देखा जाय तो हिंदुओंके दान से व्यभिचार और पापके अङ्गों का ही निर्माण होता हैं, देश का लाभ तो वहुत ही कम, किसी ही सुपात्र के दान से होता है।

मैं फिर कहता हूँ, देश के व्यापारी जो अपनी भयानक मशीनों और रहस्यपूर्ण वहीखातों तथा पाप पूर्ण सट्टों और जुआचोरियों के द्वारा करोड़ों रुपये कमाते और उनमें से लाखों दान करते हैं; वे कभी भी धर्म के अधिकारी नहीं, क्षमा के योग्य भी नहीं। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ये व्यापारी देश के पुत्र नहीं, देश के साथ उनकी कोई सहानुभूति भी नहीं। देश के दुःख के साथ

उनका दुःख और देश के सुख के साथ उनका सुख भी नहीं। वे विदेशी सरकार की भांति, तस्मे के लिये भैंस हलाल करने वाले निर्दयी स्वार्थी हैं जो महंगी बने रखने के लिये सभी सद्-असद् उपाय सदा काम में लाते रहते हैं।

ये श्रीमन्त व्यापारी केवल बड़े बड़े दान करके देश के भाई या धर्मात्मा नहीं बन सकते। इनके लाखों रुपये के ये दान पाप की कमाई का हिस्सा हैं जो सट्टा, सूद, हरामीपन और ग़रीबों के पसीने से निचोड़ी हुई है। प्राचीन रजवाड़ों में राजा लोग डाकू लोगों से लूट का भाग लिया करते थे और वह रक़म पाकर उन की तरफ़ से आंख मीच लिया करते थे। ऐसे दानों को ग्रहण करने वाले भी उसी श्रेणी के हैं। ऐसे धन को दान करने वाले तो पापिष्ठ हैं ही, स्वीकार करने वाले भी धर्महीन हैं। तेजस्वी लोग कभी अन्यायीका दान और आतिथ्य स्वीकार नहीं करते। महा-पुरुष कृष्ण ने जिस वीरता से दुर्योधन का राजसी स्वागत और आतिथ्य अस्वीकार करके धर्मात्मा विदुर का दरिद्र आतिथ्य-स्वीकार किया था, सो विचारने के योग्य है।

यदि कोई अमीर अपने सतखण्डे महलों को सामने खड़ा हो कर ढहा दे, या उन्हें अस्पताल बनवा दे, ठाठ बाट की चीजें, जवाहरात, जेवर, जायदाद, सब सार्वजनिक सेवा में दान करदे और भविष्य में देश के साथ मजूरी करके खाय, जैसा कि देश खाता है, वैसे ही घरों में रहे जैसे में देश रहता है, और निर्वाह के बाद देशके साथ कन्धेसे कन्धा मिला कर सार्वजनिक कार्य करे— कटे, मरे, जिए, फले, फूले, तो निस्सन्देह वह धर्मात्मा है।

राजा महेन्द्रप्रताप और दर्बार गोपालदास के दान यद्यपि राजनैतिक भावनाओं से परिपूर्ण हैं, पर वे मेरी दृष्टि में धर्म दान की श्रेणी में हैं।

भाग्यहीन दारा, जब औरङ्गजेब द्वारा पकड़ा जाकर जल्लादों के साथ एक गन्दी और नङ्गी हथिनी पर दिल्ली के बाजारों में घुमाया गया, जहाँ वह सदा ही हीरे मोती लुटाता निकलता था, तब एक भिखारी ने उसे देखकर इस प्रकार कहा—दारा, ओ बादशाह! तून हमेशा ही कुछ न कुछ मुझे दिया, आज भी कुछ दे, दारा के पास कुछ न था, वह जो वस्त्र पहने था, उसे उसने उतारा और भिक्षुक को दे दिया!!

महाभारत में एक सुन्दर कथा का उल्लेख है—

जिस समय सम्राट् युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ समाप्त किया और विश्व भर की सम्पदा को दान कर दिया, तब उन्हें कुछ गर्व हुआ और कृष्ण से कहने लगे कि महाराज! अब मैं सार्वभौम पद का अधिकारी हुआ।

भगवान् कृष्ण कुछ न कह पाये थे कि इतने में एक अद्भुत मामला हुआ। सबने देखा—एक नेवला जिसका आधा शरीर सोने का और आधा साधारण है, किसी तरफ़ से आकर यज्ञ के पात्रों में लोट रहा है। सब लोग परम आश्चर्य से इस जीव को देखने लगे। तब कृष्ण ने कहा—हे कीट-योनि-धारी! तुम कौन हो? यक्ष हो कि पिशाच, देव हो या दानव, सत्य कहो। तुम किस अभिप्राय से पवित्र यज्ञ पात्रों में लोट रहे हो?

सबको चकित करता हुआ वह जीव मनुष्य वाणी से बोला हे

महाराज ! मैं न यक्ष हूँ न देव; मैं वास्तव में क्षुद्र कीट हूँ। बहुत दिन हुए एक महान् पात्र के अवशिष्ट जल में मुझे स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस पवित्र जल से मेरा आधा शरीर भीगा था, उतना ही वह सोने का हो गया। मैंने सुना था कि सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर ने महायज्ञ किया है। मन में विचारा कि चलो मरती जाती दुनिया है—एक वार लौट कर बाक़ी का आधा शरीर भी स्वर्ण का बनालूँ। इसी इरादे से आया था, परन्तु यहां तो ढाक के तीन ही पत्ते दीखे, नाम ही था। मेरा इतने दूर का प्रवास व्यर्थ ही हुआ। मेरा शरीर तो वैसा ही रहा।

बात सुनकर युधिष्ठिर सन्न होगये। उन्होंने उत्सुकता से पूछा कि भाई, वह कौनसा महान् राजा था जिसने भारी यज्ञ किया था? दया कर उसका आख्यान सुनाकर हमारे कौतूहल को दूर करो।

नेवले ने शान्त वाणी से कहना शुरू किया—"एक वार देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, बारह वर्ष तक वर्षा न हुई। पशु पक्षी सब मर गये। वृक्ष वनस्पति सब जलकर राख होगई। मनुष्यों के कंकालों के ढेर लग गये। वृक्षों की पत्ती, जड़ और छाल तक लोग खा गये। मनुष्य मनुष्य को खाने लगा। ऐसे समय में एक छोटे से ग्राम में एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार रहता था। उसमें चार आदमी थे। एक ब्राह्मण, दूसरी उसकी स्त्री, तीसरा उसका पुत्र और चौथी पुत्रवधू। इस धर्मात्मा का यह नित्य नियम था कि भोजन से पूर्व वह किसी भी अतिथि को पुकारता था कि कोई भूखा हो तो भोजन करले। यह नियम इसने इन दुर्दिनों में भी अखण्ड रक्खा। भूख के मारे चारों अधमरे हो गये थे। सप्ताह में

एकाध बार कुछ मिलता, पर नियम से ब्राह्मण किसी अतिथि को पुकारता। इस काल में अतिथि की क्या कमी थी? कोई न कोई आकर उसका आहार खाजाता था। एक दिन पन्द्रह दिनके पीछे कुछ साधारण द्रव्य मिला। जब चार भाग करके चारों खाने बैठे—तब फिर उसने किसी भूखे को पुकारा और एक बूढ़े ने आकर कहा—मैं भूख से मर रहा हूँ, ईश्वर के लिये मुझे भोजन दो। गृहस्थ ने आदर से उसे बुलाया और अपना भाग उसके सामने धर दिया। खा चुकने पर जब उसने कहा—अभी मैं और भूखा हूँ। तब गृहणी ने, और उससे पीछे बारी-बारी से पुत्र और पुत्र-वधू ने भी अपने अपने भाग दे दिये। इतने पर अतिथि ने तृप्त होकर आशीर्वाद दिया और हाथ धोकर वह अपने रास्ते लगा। वह धर्मात्मा ब्राह्मण परिवार भूख से जर्जरित होकर मृत्यु के मुख में गया। उस अतिथि ने जो अपने झूठे हाथ धोये थे उस पानी से जो उस महात्मा का घर गीला होगया था उसमें मैं सौभाग्य से लोट लिया था। पर उस पुण्य जल में मेरा आधा ही शरीर भीगा—वह उतना ही स्वर्ण का होगया। अब शेष आधे के स्वर्ण होने की कोई आशा नहीं है। आधा शरीर चर्म का लेकर ही मरना होगा

क्षुद्र जन्तु की यह गर्वीली कथा सुनकर युधिष्टिर की गर्दन झुक गई और अपने तामसिक कर्म तथा गर्व पर लज्जा आई।

श्री रामचन्द्र जी, पिता की आज्ञा मान कर अपना राज्याधिकार त्याग जो वन को गये, उनके इस कार्य को मैं दृढ़तापूर्वक अधर्म घोषित करता हूँ। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण श्रीराम का राज्य पर पूर्ण अधिकार था। श्रीराम आदर्श शासक भी होने

योग्य थे। दशरथ जी की आज्ञा अनुचित थी, लोग कहते हैं कि उन्होंने केकई को वर दिया था, वे वचनवद्ध थे। मैं कहता हूँ उन्होंने श्रीराम को वचन दिया कि तुम्हारा राजतिलक होगा और वे केकई की अपेक्षा श्रीराम के प्रति अधिक वचनवद्ध थे। फिर राम का राज्यारोहण अत्यन्त सुखद, उत्तम, न्यायनीतियुक्त और उचित था। यदि दो वचनों की बराबरी का ही संघर्ष था तो उन्हें राम को दिये वचन को ही पालन करना चाहिये था। मैं कह सकता हूँ कि यह झूठ बात है कि दशरथ ने केवल प्रण के कारण ही राम को वनोवास जाने दिया। वास्तव में असल बात तो यह थी कि वे परले दर्जे के स्त्रैण और दुर्बल हृदय राजा थे। जैसे कि आज भी स्त्रियों के गुलाम बूढ़े रईस देख पड़ते हैं जो पुत्रों पर अत्याचार करते हैं। राम एक असाधारण धैर्यमय महापुरुष थे, इसलिये उन्होंने वन में भी चाहे जितने कष्ट भोगे—पर यश का ही सञ्चय किया, परन्तु यदि इतिहास को खोज कर देखा जाय तो दशरथ जैसे स्त्रियों के दास राजाओं की कमी नहीं। पूर्णमल को ऐसे ही पतित पिता ने स्त्री के वशीभूत होकर हाथ पाँव कटवा कर कुएं में डलवाया था। अशोक जैसे प्रियदर्शी ने अपने पुत्र कुणाल को ऐसी ही स्त्री की दासता करके आँखें निकाल ली थीं। ऐसे स्त्रैण पुरुषों के वहुत उदाहरण हैं। दशरथ ने न तो अपने राज्य के अधिपति होने के उत्तरदायित्व पर विचार किया और न पिता के उत्तरदायित्व पर। उसने न केवल राम पर, प्रत्युत अपनी ज्येष्ठा पत्नी कौशिल्या पर भी घोर अन्याय किया। बिना ही अपराध एक ज्येष्ठ पत्नी के ज्येष्ठ पुत्र

को, जिसका अधिकार था, अधिकार च्युत करके वन भेजना और कनिष्ठा और दुष्टा पत्नी के पुत्र को अनधिकार राज्याधिकार देना, दशरथ के दुर्बल हृदय का खुला उदाहरण है जिसकी अधिक से अधिक निन्दा की जानी चाहिये। भला, मैं यह पूछता हूँ कि यदि कैकई यह वरदान मांगती कि सारी अयोध्या को उसके निवासियों सहित फूंक डाला जाय तब भी क्या दशरथ ऐसा करते ?

मैं यह कहता हूँ कि राम को अपने ऐसे पिता की ऐसी आज्ञा नहीं पालन करनी चाहिये थी। उन्हें दृढ़ता-पूर्वक इन्कार करदेना उचित था, इस स्त्रैण वृद्धके इस कुकर्मके फल स्वरूप फूलसी सीता को क्या क्या लांछनाएं और विपत्तियाँ नहीं सहनी पड़ीं ? और राम को जीवन भर किन किन मुसीबतों से न टकराना पड़ा ?

लोग चिउंटियों को, कीड़े मकोड़ों को आटे में गुड़ या चीनी मिला कर जिमाया करते हैं और इसे धर्म समझते हैं। उधर बड़े बड़े वैज्ञानिक और डाक्टर लोग पृथ्वीभर से रोग कीटाणुओं को, मक्खियों को, मच्छरों को, खटमलों को, पिस्सुओं को जड़मूल से नष्ट करने पर तुले हुए हैं। मैं पूछता हूँ, इन दोनों श्रेणियों में धर्मात्मा कौन हैं ? वे वैज्ञानिक और डाक्टर लोग या चिउंटियों को गुड़ शक्कर खिलाने वाले ? बहुधा देखा जाता है कि म्युनिसिपेल्टियां बन्दरों को, कुत्तों को और चूहों को पकड़ कर नष्ट किया चाहती हैं, परन्तु लोग प्रायः उसका विरोध किया करते हैं। बन्दर हिन्दुओं की दृष्टि में देवता हैं क्योंकि वे सभी अंगद और हनुमान के भतीजे ठहरे, उन्होंने गढ़लङ्का फ़तह की थी। इस लिये वे मङ्गलवार के दिन बंदरोंको गुड़धानी खिलाना धर्म समझते

हैं। इसी प्रकार गौ उनकी माता है। उसे वे यदि उनके घर में कोई असाध्य बीमार हो जाय तो आटे के पिंड खिलाते हैं। यह उनका धर्म है। कुत्ता भैरों जी की और चूहा गणेशजीकी सवारी है, इन सब को जिमाना धर्म है। खास करकाले कुत्ते को दूध पिलाना।

हमारी राय में सच्चा धर्म वह है जिससे मनुष्य मनुष्य के प्रति उत्तरदायी हो। प्राणी मात्र के प्रति उत्तरदायी हो। धर्म वह है जिसके आधार पर मनुष्य अधिकसे अधिक लोकोपकार कर सके। धर्म वह है जिससे हृदय और मस्तिष्क का पूरा विकास हो। दया धर्म है, प्रेम धर्म है, सहनशीलता धर्म है। उदारता धर्म है, सहायता धर्म है, उत्साह कर्म है, त्याग धर्म है।

हे हिन्दू जाति के आशास्तम्भो! हे मेरे प्यारे नवीन कुमारों और कुमारिकाओं। इसी नवीन धर्म को हृदयंगम करो जिस से तुम्हारा मस्तिष्क और हृदय कमल पुष्प की भांति खिल जाय और तुम मन-वचन से और कर्म से किसी के गुलाम न रहो।

धर्म वह है जो स्वाधीनता प्रकाश और जीवन दे, धर्म वह है जो जातियों को संगठित करे, प्राणियों को निर्भय करे, जीवन को सुखी और सन्तुष्ट करे। धर्मके ढकोसलों को त्यागो,नवीन धर्म को ग्रहण करो। तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा।

इस बातकी परवा न करो कि तुम्हारी इस स्वतन्त्र भावना में तुम्हारे बुजुर्ग लोग बाधा देंगे। मैं कहता हूँ कि तुम उनकी आज्ञाएं माननेसे इन्कार कर दो। जिन्हें तुम अपनी दृष्टिमें मूर्खतापूर्ण, अव्यवहारिक, और अपनी आत्मा की आवाज से विपरीत समझते हो।

(७)

अछूतपन का नाश

महात्मा गांधी ने आमरण उपवास करने का सङ्कल्प प्रकट करके एक बारगी ही पृथ्वी भर का ध्यान भारत के अभागे अछूतों की तरफ आकर्षित कर दिया। जिस शर्त पर उन्होंने इस उपवास का अनुष्ठान किया था, वह पूरी हो गई और महात्मा जी के शब्दों में यह व्रत स्थगित कर दिया गया। 'स्थगित' करने की बात कहकर महात्माजी ने यह चेतावनी हिन्दू समाज को दी कि तुम अछूतपने को नष्ट कर दो, वरना मैं तुम्हारे लिये व्रत करूंगा और प्राण दूंगा। गत मई में उन्होंने २१ दिन का व्रत किया और भारत के सौभाग्य से इस कठिन अग्नि परीक्षा में से अछूते निकल आये। पर उनका कहना है कि आवश्यकता पड़ने पर वह इसी प्रकार का उपवास और भी रक्खेंगे।

इस बात से भीरु हिंदू डर गये हैं और वे जल्दी २ अछूतोद्धार करने की चेष्टाएं कर रहे हैं। कहीं कोई श्राद्ध में ब्राह्मणों के स्थान पर भङ्गियों को जिमा कर उन्हें दक्षिणा दे रहा है, कहीं कोई मंदिरोंके पट अछूतों के लिये खोल रहा है। कहीं कोई लाखों रुपया चन्दा कर-करके अछूतोद्धार का लम्बा-चौड़ा बन्दोबस्त कर रहा है! हिंदू सभा से लेकर साधारण हिंदू संस्थाओं तक, बड़े बड़े व्यक्तियों से लेकर नगण्य मनुष्य तक आज अछूतोद्धार के

सम्बंध में कुछ न कुछ सोच रहा है। परन्तु मुझे इन सब उद्योगों के होते हुए भी अछूतोद्धार होने की तनिक भी आशा नहीं है।

इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१—हिंदुओं के हृदय में अछूतों के प्रति बराबरी का भाव नहीं पैदा हुआ है, न उनके पुराने कुसंस्कार दूर हुए हैं। वे केवल महात्माजी की धमकी से बेतरह डरकर ऐसा करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे मुण्डचिरों को देखकर दब्बू बनिया पैसा फेंककर जान छुड़ाता है। सरकार महात्माजी के प्राणत्याग से डर गई, इसलिये कि पृथ्वी की महाजातियों में हलचल मच जायगी। उसी भाँति हिंदू डर रहे हैं इस बात से कि, महात्माजी ने प्राण त्यागे, तो हमें बड़ा पाप लगेगा।

मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वे करोड़ों अछूतों को भयानक पतन में डालने को पाप नहीं समझते, वे सिर्फ़ महात्मा जी के प्राण-त्याग को पाप समझते हैं, और उससे भयभीत होकर बहुतों ने महात्माजी के अनुकूल कुछ चेष्टाएं की हैं। अल-बत्, कुछ इने-गिने कई आदमी भी होसकते हैं। पर उनकी गणना करना व्यर्थ है।

२—दूसरा कारण यह है कि हमने अपने जीवन को ऐसा बना रखा है कि अछूतों की हमें अनिवार्य्य आवश्यकता बनी हुई है। उस आवश्यकता को नाश करने की हम तनिक भी चेष्टा अभी तक नहीं कर पाये हैं। और जब तक हमें अछूतों की आवश्यकता है, हम अछूतपने को कैसे दूर कर सकते हैं? उदा-हरण के लिये भंगी के प्रश्न को लीजिये। नगरों और क़स्बों में

प्रत्येक घर में गन्दे, घृणित पाखाने हैं। सौ में पाँच आदमियों ने अपने पाखानों में कुछ भी सुधार नहीं किया। यदि एक दिन भी भङ्गी साफ़ नहीं करता, तो घर भर सड़ जाता है। भङ्गी के लिये यह अनिवार्य्य है कि वह टोकरों में मैला भरकर सिर पर लादकर दूर तक ले जाय। वहाँ दूसरा भङ्गी महल्ले भर के मैले को गाड़ी में भरे खड़ा है, उसमें उसे भी डाल दे।

प्रातःकाल जब हमारी बहनें और बेटियां स्नान, सन्ध्या, पूजा कर पवित्र हो, धर्म पुस्तकोंका पाठ करती हैं, तब ये हमारी भंगिन बहनें और बेटियां मैले से भरे टोकरे भर भर कर लादती हैं। उन्हें मैले से भरे हाथों से रोटियां और जूठन अपने गंदे वस्त्रों में लेनी पड़ती हैं और खानी पड़ती हैं। इस रोमाञ्चकारी भयानक दंड को जिसे नित्य हिंदू देख रहे हैं, क्या किसी भी विचारशील गैरतमंद मनुष्य के लिये देखना संभव है? हिन्दू जाति के आदमी इन नीच और घिनौने दृश्यों को महज़ देखते ही नहीं, उसकी सारी जिम्मेदारी भी उन्हीं पर है।

३—तीसरा कारण जो अछूतों को अछूत बनाए हुए है उनकी पीढ़ियों से गिरी हुई माली हालत से सम्बंध रखता है। वे सदासे जूठन खाते आये हैं, झोंपड़ों में रहते आये हैं, फटे चिथड़े पहनते आये हैं। उनके जीवन अतिशय वीभत्स हो गये हैं। जिन लोगों में जाग्रति उत्पन्न हुई है वे बहुत कम हैं। अधिकांश तो चुपचाप अपने पतित जीवन को काट रहे हैं। वे अपने जीवन में उतने ही संतुष्ट हैं जितना कोई भी अधम कीड़ा अपने अधम शरीर में। मैंने देखा है कि विवाह-शादियों में जूठन के बंटवारे पर वे लड़ते हैं।

अमुक घरका कमाना किसके अधिकार में है, इस प्रश्न पर कट-मरते हैं। अब क्या आप सोचते हैं कि वे आप की चेष्टाओं से लाभ उठा सकते हैं ?

अबतक हिन्दू समाज ने अछूतों के उद्धार की दो चेष्टाएं की हैं। १—उन्हें मन्दिरों में प्रवेश अधिकार देने का निश्चय किया है। २—उनकी शिक्षा और संस्कृति के उद्योग में कुछ रुपया खर्च करने की इच्छा प्रकट की है।

प्रथम उपाय से आगे चल कर कुछ लाभ हो सकता है। पर उसकी वर्तमान में कोई हस्ती नहीं है। भंगी आजीविका के लिये परिवार सहित दोनों समय ३०।५० घरों का मलमूत्र सिरपर ढोता है, उसी घरोंके जूठनसे पेट पालता है, उतरनसे बदन ढांपता है, और भयानक दरिद्रता से जीवन व्यतीत करता है। उसका मन्दिर में जाने से क्या उपकार होगा ? और ऐसी परिस्थिति में मन्दिर ही की पवित्रता की रक्षा कैसे हो सकेगी। यह तो उसी प्रकार का पतन है कि जिस प्रकार आज हमलोग जूता पहनकर रोटी खाना सीख गयेहैं, उसी भांति जूता पहनकर मन्दिरोंमें भी जावेंगे। परन्तु शौच की मर्यादा कहां जायगी जिसकी हमें कमसे कम मन्दिरों में—जो पवित्र और अति मूल्यवान् भावनाओं के विकास के स्थल मात्र बने हुए हैं—रक्षा करनी चाहिये।

शिक्षा के लिये आप अधिक से अधिक अछूतों को पकड़ सकते हैं। कल्पना कीजिए कि एक अछूत बालक को आपने पढ़ाना शुरू किया। वह नित्य पढ़ कर ज्ञान, और विकास प्राप्त करता है, पर अपने माता-पिता और परिवार के साथ रहता है, जिनकी

दशामें कोई फेरफार नहीं है,वहीं खाता है और उन्हींके साथ सोता है। स्कूल में वह शुद्ध रहने की शिक्षा पाता है, पर माता पिता के साथ मांगे हुए जूठन पर पेट पालता है। इधर बड़े होकर उसने ऐन्ट्रेन्स पास, किया उधर एक भंगी की लड़की से शादी की, जो उसी भांति पाखाना कमाती है। अब आप कहिए कि इससे क्या लाभ हुआ? आप यह चाहते हैं कि जिन अछूत बालकों को आप शिक्षा दें वे अपने परिवारसे सम्बन्ध विच्छेद कर लें, यह तो कोई समाज सुधार का तरीक़ा नहीं है।

अछूतोद्धार एक ही रीति से होगा,वह यह कि अछूतों की आवश्यकताओं को नष्ट कर दो। अछूतपन के रोजगारों और आजीविकाओं का बीज-नाश कर दो। प्रत्येक शहर में भंगियों को समझा दो कि वह पाखाने कमाने से इन्कार कर दें। उनके लिये छोटी-छोटी कारीगरी के स्कूल खोल दो और प्रत्येक तीसरे महीने उन्हें २०) २५) का मज़दूर बनाकर निकालो, पाख़ाने किस भांति साफ होंगे—यह देखना म्यूनिसिपिलिटियों का काम है। वह फ्लश-सिस्टम बनावें या प्रत्येक गृहस्थ स्वयं अपना भंगी बने। अन्य ऐसी ही अछूत जातियों को तथा ख़ानाबदोशों को भी नागरिक बनाओ। उन्हें अच्छे धन्धे सिखाओ। उनके अपने पुराने रोज़गारों को नष्ट कर दो। फिर वे आपके मन्दिरों के मुहताज न रहेंगे। स्वयं मन्दिर बना लेंगे और स्वयं उनका विकास और उद्धार हो जायगा। यदि तुम्हारी अपनी उनके उद्धार की इच्छा नहीं तो महात्मा जी की इच्छा से अछूतोद्धार की चेष्टा न करो।

समस्त भारत में दक्षिण प्रान्त छूआछूत के लिये वहुत अधिक बदनाम है। शायद लोगों को यह पता नहीं है कि दक्षिण के ब्राह्मण इतने घमण्डी हैं कि वे उत्तर भारत के मनुष्य मात्र को अछूत की भाँति ही समझते हैं। वहाँ के मन्दिर ब्राह्मणों के गढ़ हैं। उस प्रदेश में ब्राह्मणों के चलने के मार्ग पर अछूत नहीं चल सकता। हां, ईसाई, मुसलमान मज़े में जा सकते हैं।

वे दिन वीत गये कि हम अछूतों के सम्बन्ध में शास्त्रों की व्यवस्था ढूंढते फिरें। हम शास्त्रों और उनकी मर्यादा पालन करने वाले ढोंगी पन्थियों की अपेक्षा इन ७ करोड़ मनुष्यों की ज्यादा क़ीमत समझते हैं। हम ७ करोड़ नर नारियों को जीते जी सामाजिक क़ब्र में नहीं दफ़न कर सकते। अगर आज हम उनकी तरफ से ऐसा करने की वेवकूफ़ी करेंगे तो हमारे पैर कट जावेंगे। यह असम्भव है कि अव अछूत अछूत वने रहें। यदि हम उन्हें उठने नहीं देंगे तो वे स्वयं ही उठ खड़े होंगे। और तव वे हमारे न होंगे। हमारी राष्ट्रीय विपत्ति को दूर करने का एक मात्र सहारा ये अछूत हैं। इनमें क्या माननीय गुण नहीं, क्या जीवन नहीं, साहस नहीं, संगठन नहीं ? हमारे वरावर अभागा और पतित कौन है जो ७ करोड़ मनुष्यों की अवहेलना करके उन्हें अपनी आस्तीन का सांप वनाये ? इस धर्म ढकोसले के आधार पर हमने अपने सगे भाइयों को धक्के दे दे कर ईसाई और मुसलमान वना लिया जो हमारे पल्ले में आग के अंगारे की भाँति वँधे हमें स्वाहा कर रहे हैं। क्या हम यह चाहते हैं कि सभी अछूत हम से छिन जायँ ?

यदि हमारा यही एक मात्र कर्तव्य है कि हम उन्हें स्वाधीन करें तो हमारा पहिला काम तो यह है कि हम ऐसे मकानात निर्माण करें, ऐसा जीवन व्यतीत करें कि हमें अछूतों की बिल्कुल आवश्यकता न रह जाय। दूसरी बात यह है कि जब तक यह काम असम्भव हो, हमें उनके प्रति उदार होना चाहिये। हम उन्हें अधिक से अधिक वेतन दें। अधिक से अधिक सुविधाएँ दें। जूठा अन्न न दें, फटे वस्त्र न दें। शुद्ध रहने की सलाह दें। विश्वास करें, आदर से संभाषण करें, सामाजिक सहयोग दें। धीरे २ उनका साहस और आत्मगौरव उदय होगा। उनमें मान की, मर्यादा की मरी हुई भावना उत्पन्न हो जायगी और वे समाज के सब से बड़े और मजबूत ठोस खम्भे साबित होंगे।

हमें भली भाँति यह समझ लेना चाहिये कि अछूतों की बाबत हमें अपने ही खून से लड़ना है। वे हिन्दू बेगैरत हैं जो यह चुप चाप देखते रहें कि हमारी लाखों बहिन बेटियाँ ७ करोड़ मुसलमानों के मलमूत्र चुपचाप अपने सिरों पर टोकरों में भर कर ढोती रहें। भंगी और चमार हिन्दू हैं और वे हिन्दू ही रहेंगे। इन्सानियत और न्याय के नाम पर हमारा यह कर्तव्य है कि हम उन्हें हर तरह अपने बराबरी का भाई बनने की स्वाधीनता और सहायता दें। साथ ही गैरत के नाम पर हमारा यह भी फर्ज है कि जब हम किसी भंगिन को मुसलमानों के नर्क सिर पर धरते हुए देखें तो इस बात को महसूस करें कि हमारी बहिन बेटी की हद दर्जे की बेइज्जती हो रही है। आपको यह बात खूब अच्छी तरह समझ लेनी होगी कि नवीन हिंदू राष्ट्र का कोई भी आदमी

किसी ग़ैर जाति की नीच सेवा न करने पावेगा। हमारे अछूत भाई भी ईसाइयों, योरोपियनों और मुसलमानों की नीच सेवाएं न करने पावेंगे। यह मत समझिये कि आप भंगियों से उसी भाँति इकन्नी महीने पर अपने पायख़ाने भी कमवाने जावेंगे और उनसे राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की मर्यादा का पालन भी कराते जावेंगे। हमारा पहला काम तो यह होगा कि हम उनसे पशुओं की भाँति अनिवार्य्य रीति से नीच सेवाएं न ले सकेंगे। इसी भाँति चमारों का मुर्दे पशुओं की खाल उधेड़ना, मुसलमान व्यापारियों से चमड़े आदि का व्यापार करना, स्त्रियों से व्यवसाय सम्बन्धी ऐसे काम कराना जिनमें ग़ैर जाति के लोगों को स्त्रियों पर हुक्म चलाने और गालियां देने का हक़ हो, बन्द कर देने होंगे।

७ करोड़ अछूत हमारे सब से अधिक परिश्रमी और दृढ़ भाई हैं। ७ करोड़ मनुष्यों की सेना बहुत होती है। ७ करोड़ मनुष्य पूरे इंग्लैण्ड में नहीं हैं। हम ७ करोड़ मनुष्यों के सवाल को उपेक्षा से नहीं देख सकते। हमें इस विषय में बहुत अधिक क्रियात्मक काम करना पड़ेगा।

मैं जानता हूँ, इस हमारे क्रियात्मक कार्य का विरोध अनेक पुराने ढंग के हिंदू करेंगे—पर, वे चाहे हमारे बुज़ुर्ग हों चाहे सम्बंधी, हम अवश्य उनसे लड़ेंगे। हम अपनी टाँगें नहीं कटने देंगे, चाहे हमारे पिता ही क्यों न काटने आवें। हमारे सामने बहुत बड़े राष्ट्र के मरने जीने का प्रश्न है। इसके सामने तुच्छ लिहाज़ और संकोच की कोई हस्ती ही न समझनी चाहिये।

———

(८)

शिक्षा-वेश्या का नाश

प्राचीन रोम का सेनापति जब ग्रीस के एक नगर का शासक बनाया गया तब वहां की लड़ाकू वीर प्रजा को कड़ाई से दबाने के लिए अधिकारियों ने कड़े से कड़े हुक्म भेजे। उन्होंने साफ़ आज्ञाएं दीं कि उस मुल्कके प्रत्येक सरकश आदमी को तलवारके घाट उतार दो और जबर्दस्त हुकूमत करो। किन्तु उसने अपने अधिकारियोंकी आज्ञाओं को नहीं माना। जब वह अपना शासन काल पूरा करके लौटा तो उस पर आज्ञा न मानने का अपराध लगाया गया। उससे पूछा गया कि तूने उस मुल्क के सरकश आदमियोंको शेरों से क्यों नहीं फड़वा डाला और तलवारसे क्यों नहीं मरवा डाला? उसने मुस्करा कर उत्तर दिया कि वैसा करना मैंने अनावश्यक समझा। मैं उनकी आगे तक की नस्ल को नष्ट कर देने का प्रबन्ध कर आया हूँ। जब उससे प्रबन्ध के बारे में पूछा गया तो उसने कहा :'मैंने उस मुल्क में ३००से अधिक ऐसी पाठशालाएं खुलवा दीं हैं जहाँ रोमन भाषा और रोमन सभ्यता की शिक्षा उस मुल्कके बेसमझ बच्चोंको बचपन से पढ़ाई जारही है। जिससे उनकी नस २ में रोमन उत्कृष्टता और स्वजातिकी हीनता भर जायगी, वे सब रोम के दास, रोमके भक्त,रोमके नक्क़ाल और रोम के शिष्य बन रहे हैं। तीसरी पीढ़ी में वे रोमन बन जावेंगे।'

एक बार मुझे लाहौर में एक काले ईसाई नौजवान से बात-चीत करने का मौका हुआ। पर वह आदमी सचमुच काला था और पूरे साहबी ठाटमें था। वह मेरे पास चिकित्सार्थ आया था। बातों ही बातों में मैंने उससे पूछा कि तुम लोग किस लिये अंगरेजी वेश, भाषा, और धर्मको पसन्द करते हो, क्या तुम नहीं जानते कि यूरोपियन तुमसे घृणा करते हैं? उस ने दृढ़ता पूर्वक जवाब दिया कि वे भले ही घृणा करें, हम अपनी हैसियत की परवाह नहीं करते, हम अपनी तीसरी पीढ़ी की तैयारियां कर रहे हैं। इस पीढ़ी में हम नेटिव क्रिश्चियन हैं, दूसरी पीढ़ी में यूरेशियन बनेंगे, और तीसरी में योरोपियन बन जावेंगे।"

युवक की दुराशा पर मुझे तरस आया। इस समय शिक्षा का वर्णन करती बार मैं युवक की बातों में और उस रोमन अधिकारी की बातों में एक डरावना तथ्य पाता हूं।

जब मध्यम और उच्च श्रेणी के युवकों के आचार, विचार, सभ्यता, रहन, सहन, विश्वास पर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे अपनी आत्मा का जवाब मिलता है कि धर्मान्ध मुसलमानों की तलवार ने हिन्दुत्व पर जो चोट की थी उसकी अपेक्षा अंग्रेजी शिक्षा की चोट कुछ अधिक है। सिंह के रूप में सिंह होना और गाय के रूप में सिंह होना, दोनों में अन्तर है—एक में पराक्रम और वास्तविकता है, दूसरे में छल है। सिंह को सामने देख कर आदमी सावधानी से रहेगा। किंतु गायके रूप में जो सिंह है उससे सावधानी असम्भव है। मुसलमानी तलवार यहाँ सिंह के रूप में सिंह थी, और अंग्रेजी शिक्षा गाय के रूप में सिंह है।

बम्बई, कलकत्ता के बाजार में हिंदी, उर्दू, मराठी, गुजराती साहित्य की कई दूकानें हैं, पर सब अपने कर्मों को रो रही हैं, पुस्तक विक्रेता हत्यारे के समान सुनसान सन्नाटे में बैठा रहता है। किंतु जब मैं अंग्रेजी पुस्तक विक्रेताओं की दूकानों को देखता हूं तो मेरे होश उड़ जाते हैं। एक एक दूकानमें ५० पचास आदमी काम कर रहे हैं। ग्राहकों का मेला लगा रहता है। थेकर, मेकमिलेन, तारापोरवाला, ये दूकानें नहीं हैं-कागजोंके भव्य सफेद पर्वत हैं। इन्हें देखकर मैं मन में सोचता हूँ, कौन मूर्ख इस स्थान को हिन्दुस्तान कहता है ? हिन्दुस्तान में अंग्रेजी साहित्य का यह विराट् रूप !

बड़े २ परिवारों में मेरा जाना है, पर अंग्रेजी शिक्षा ने पर्दे को सर्वदा फाश कर दिया है। उन धन कुबेरों के परिवारों में मैं क्या देखता हूं कि रहन सहन, खान पान, बोल चाल, सब अंग्रेजी है। टोपी अँग्रेजी, बाप, भाई, मित्र की बातचीत की भाषा अंग्रेजी, बूट और पतलून अंग्रेजी, बाल अंग्रेजी, मेज, कुर्सी, चाय पानी, नाश्ता भी अंग्रेजी। केवल एक चीज हिन्दुस्तानी है—काला रंग। वह किसी तरह अंग्रेजी नहीं हुआ। स्त्रियों की कुर्तियां अंग्रेजी छांट की जिस में छाती का बड़ा भाग नंगा रहता है। पुरुषों के साथ हाथ मिलाने और चाय पीने में कोई बाधा नहीं।

एक नई जातीयता बनने लगी थी। उसकी एक भाषा, एक भेष था, उसका रक्त हिंदुस्तानी का था पर रूह अंग्रेजी। जो यह बन जाती तो हिन्दुस्तान अपने लाखों वर्षके हिंदुत्व को खो देता। यह एक डरावना दृश्य था, प्रत्येक हिन्दू यूरोपियन हो गया था।

पर इसमें व्याघात पहुंचा है। क्यों ? सो आगे मालूम होगा।

यहां एक ही वात कहने की है कि इन कुलीन घरां में जो यह सव हुआ वह इसी अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम था। पञ्जाव केसरी के अवोध वालक दिलीपसिंह को उसकी माता के अधिकार से छीन कर क्यों अंग्रेज व्यक्ति की संरक्षा में उसे पाला गया? क्या इसी लिए वह अपने धर्म और राज्य को गंवा कर ईसाई न होगया? और समझदार होने पर क्या उसे ईसाई होने पर घृणा न हुई? यह वहुत सोचने की वात है।

यह शिक्षा नहीं थी, जहर था जो हिन्दुस्तानियों को मारने के लिए नहीं वरन् हिन्दुस्तान को नेस्तनावूद करने के लिये दिया गया था। ईसाइयों को अस्पृश्य समझने वालों के बेटे आज ईसाइयों के गुलाम, ईसाइयों के भक्त और ईसाइयों की भाषा, भाव और वेशधारी वन गये?

इस शिक्षा का इरादा क्या था? नवयुवकों को जीवन निर्वाह के योग्य वनाना! कितने युवक जीवन निर्वाह के योग्य हुए हैं? स्कूलों में कोई उद्योग धन्धा सिखाया गया? उनके आचार, धर्म की शिक्षा दी गयी? मिशनरियों के स्कूलों में हिंदू वालक वालिकाओं को क्यों वाइविल अनिवार्य्य रूप से पढ़ाई गयी? न जाने कितनी लड़कियां इस हत्यारी शिक्षा के प्रभाव से मां वाप की नाक काट कर ईसाई वन गयीं, न जाने कितने जवान अंधे होकर ईसाई वन गये!!!

गुल खिल गया। सव कुछ पर्दे से वाहर आगया। नीतिहीन, आदर्शहीन, स्वास्थ्यहीन, स्वावलम्वन की योग्यताहीन, अँग्रेजी कालेज, स्कूलों से छूटे हुए नौजवान, पराई भाषा और पराये

वेश को धारण किये अपनी योग्यता की खुर्चन का बंडल बगलमें दवाये गुलामी की खोज में जूतियां चटकाते फिर रहे हैं। कदाचित ही किसी देश में पढ़े लिखों का इतना अपमान पूर्ण जीवन व्यतीत होता होगा जितना भारत के अंग्रेजी शिक्षा पाये जवानों का हमारे देशों में है। उनके गाल क्यों पिचक गए हैं, वे क्यां फ़जूलखर्च और शौकीन होगए हैं? वे विदेशी काट के कपड़े पहनना ही क्यों पसन्द करने लगे हैं। अपने बुजुर्गों पर और धर्म पर उनकी श्रद्धा क्यों नहीं है? क्या इसका यह उत्तर नहीं है कि सरकारी स्कूलों में उनकी कच्ची उम्र से ही उन्हें ऐसा बनाने का अभ्यास बलपूर्वक कराया गया है? मुझे खूब याद है जब मैं छोटी कक्षा में स्कूल में पढ़ता था, तब पैजामे की जगह धोती पहन कर आने के कारण मुझे अनेकों बार मास्टर की चपत खानी पड़ी थी! क्यों? क्या धोती कुछ सुन्दर या यथेष्ठ वस्त्र नहीं है, और क्या वह पैजामे से कहीं अधिक स्वच्छ नहीं रहती? हमारे स्कूलों में बैंचों और कुर्सी पर बैठना क्यों सिखाया गया? हमारे घरों में तो ये सब वस्तुयें न थीं। पर अब तो धरती पर बैठा ही नहीं जाता! टांगें अकड़ जाती हैं। कुर्सी खरीदनी ही पड़ी। यदि सरकार इमानदारी से ही शिक्षा फैला कर भारत को अविद्या अँधकार से उद्धार करने वाली थी तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि उसने कितना अँधकार दूर किया है? कितने कवि, कितने दार्शनिक, कितने आविष्कारक और कितने लेखक भारत में अङ्गरेजी तालीम पाकर तैयार हुए हैं? जिसकी हिम्मत हो जवाब दे! शिक्षा फैलाने की डींग हांकने वाले मुझे समझा

दें कि उनकी बी० ए०, एम० ए० की डिग्री का मूल्य कितनी कौड़ी है?

वही न यह भारत है जहाँ का वायु मण्डल विश्व भारती की हवा से ओत प्रोत हो रहा है, जहाँ वक्तृता कविता में हुआ करती थी, अभी कुछ दिन प्रथम गांव गांव में आशु कवि थे, वे आज कहाँ मिट्टी में मिल गए? यह नालायक़ बी० ए० की डिग्री जिस तरह युवकों को मूंज की तरह अकड़ा देती है उसी तरह यदि कबीर, नानक, रहीम और तुलसीदास पैदा कर सकती? न होता वर्डज़्वर्थ, टैनीसन, बायरन ही पैदा करती, मगर किस तरह? इस शिक्षा का उद्देश्य तो अँग्रेजों की गुलामी, अँग्रेजों की भक्ति, अँग्रेजों की नक़ल था! यह शिक्षा नहीं थी बागवत थी, झूठ था और पाजीपन था। जिस तरह हरामजादे नौकर किसी अमीर के बच्चों को तरह २ का शौक़ दिला कर खिलौने मिठाई आदि पर जी ललचा कर उन्हें ज़िद करके बापसे पैसे लेनेका हठ करनेकी शिक्षा देते हैं, जैसे बेईमान और लफंगे मुसाहिब किसी नये अमीरज़ादे को तरह २ के व्यसनों में फंसा कर आप गुलछर्रे उड़ाते हैं—उसी तरह अँग्रेजों ने इस शिक्षा-वेश्या की आड़ में हमारे बच्चों को धोबी का कुत्ता बना दिया। खद्दर की मिरज़ई और एक धोती जोड़े को पहन कर जो महाशय लाखोंका कारबार करते २ बालक से बूढ़े हुए, उनके बेटों को इस शिक्षा ने २०) गज की सरज का कोट और सफ़ेद फ़लालेन की पतलून पहनना सिखाया। विलायती कम्पनी के जूते-कालर टाई बिना पहने शायद वे शिक्षित कहा ही नहीं सकते थे, क्योंकि शिक्षा कुछ मन की तो है ही नहीं, वह

शरीर की है। हिन्दुस्तान के लोग पहले शायद कौवों की बोली बोलते थे। बेचारे अङ्गरेजों ने उन्हें मनुष्यों की भाषा सिखलाई। जिन घरों में स्त्रियाँ गहनों से लदी रहती थीं, वहां आज बढ़िया साड़ी और बन्डियों में सोने का रुपया विलायत जा रहा है, पुराने सीधे-सादे घरों में जो कुछ जमा पूंजी थी, आज उसके स्थान पर मेज़ कुर्सी, टांय टांय फिस !! मैं पूछता हूँ किस अधिकार पर अङ्गरेज़ों ने हिन्दी प्रजा के घर में यह मनमाना उथल पुथल किया? और इस कृत्य पर उन्हें लाज क्यों नहीं आती? उन्होंने प्रजा के नैतिक और धार्मिक जीवन को नाश करने और आत्मिक मान को मार डालने के ही इरादे से, तथा शेर के बच्चों को बकरी की तरह पालतू बनाने के लिए ही अपनी मनमानी शिक्षा भारत में फैलाई है। हाय ! हम कैसे मूर्ख हैं ! हमने अपने बच्चे दुश्मनों के हाथों में सौंप दिए। एक ओर हम ईसाइयों से घृणा करते थे, कृस्तान का शब्द हमारे परिवारों में घोर तिरस्कार व्यंजक था, अङ्गरेज़ों के नौकर होने पर भी हमने न पतलून पहनी, न अङ्गरेज़ों के ढंग सीखे; हम हिन्दुस्तानी रहकर ही पेट के लिए अङ्गरेज़ों की नौकरी करते रहे; पर जब गुलामों की टकसालें अङ्गरेज़ों ने खोल दीं तो हमने चाव से अपने बच्चों को वहाँ भेजा, हम अन्धे बन गए। हमने देखा, हमारा बच्चा अब सन्ध्या नहीं करता। बिना स्नान किये जलपान करने में भी उसे आपत्ति नहीं। उसने बूट पहना है, पतलून भी सिलवाई है। उसने मेज कुर्सी खरीदी है। घरों को उसने आफिस बना दिया है। हम तब भी न समझे। जैसे मूर्ख मां बाप बच्चों

को गाली देते या मारपीट करते देख कर कौतूहल से हँस देते हैं वैसे ही हमने भी यह सब परिवर्तन कौतुक से देखा। जब लड़के ग्रेजुएट हुए, उधर इनका व्याह हुआ, उधर उन्हें आफ़िस में क्लर्की मिली, तो उसे सती साध्वी स्त्री मूर्ख जँचने लगी। माँ बाप भी मूर्ख जँचने लगे। अभागे नौजवान अपने को मूर्खों की औलाद कह कर कुढ़ने लगे? अभागे हिन्दू माँ बाप की आँखें अब भी न खुलीं।

बताओ, आज हिन्दुत्व कहां है? नवीन सभ्यता के गुलाम, आज के शिक्षित युवक, यूरोप की बड़ी २ जातियों के इतिहास तो जानते हैं—पर अपना कुल गोत्र नहीं जानते? इसी हिन्दुत्व को फांसी लगाने का सारा षडयन्त्र हुआ था, उद्ग्रीव हिन्दू यदि हिन्दू रहते तो क्या वे अंग्रेजों की गुलामी कर सकते थे? अँग्रेजों ने उन्हें चुपचाप हिन्दुत्व से हटाकर ईसाइयत पर, गोरेपन पर लट्टू किया। इसका परिणाम न केवल यही हुआ कि अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी वेश देश में व्याप्त हो गया, बल्कि असंख्य हिन्दुओं के नौजवान खुल्लमखुल्ला धर्म त्याग कर ईसाई हो गये।

कन्याओं पर और भी अपमानजनक हमले हुये, पर्दे की ऊँची दीवारों में उन्हें बेपर्द गोरी बीबियों के पैरों में बैठाकर ईसाइयत-सिखाई गई। सिर्फ ईसाइयत! इन सब मामलों में कितने बड़े घर तबाह होगये हैं, यह बात साधारण नहीं है। स्टेशनों पर, हमारे धर्म के मेलों पर, गङ्गा के पर्व पर गली गली हमारे ही भाई मुसलमान और हिन्दू आज मसीह के गीत गाते फिरते हैं। उनकी दुर्दशा तो उनके जीवन से ही प्रकट हो रही है, पर उससे अधिक दुर्दशा

यह है कि ये अभागे चारों ओर से घृणा के पात्र और तिरस्कृत बन गये हैं।

एक बार मैं अपने एक प्रतिष्ठित मित्र के साथ हवाख़ोरी को गया। प्रातःकाल का समय था। सुन्दर हरी भरी पहाड़ियों के बीच में एक हरियाले मैदानपर स्वच्छ जल की क़ुदरती छोटी सी झील थी। सोने की तरह दोपहर की सूर्य-किरणों में उसका जल चमक रहा था। उस झील के बीचों बीच एक टेकड़ी पानी के ऊपर निकल आई थी। उस पर बहुत ही सुन्दर सफ़ेद रंग के कई जल पक्षी बड़ी सुन्दर पंक्ति में बैठे चहक रहे थे। उन्हें देख-कर मेरे मित्र ने कहा—'अहा, देखो ये सुन्दर पक्षी एक पंक्ति में इकट्ठे बैठे कैसे सुन्दर मालूम देते हैं। मैंने उन पर चाह की एक दृष्टि डाली और फिर मित्र की तरफ़ तीव्र दृष्टि से देखकर कहा—

"यह इनका सौभाग्य है कि ये अँग्रेज़ी पढ़े लिखे नहीं हैं। नहीं तो आज ये इस भाँति निश्चिन्त हो कर इस बेफ़िक्री और प्रेम से यहां बैठकर प्रकृति का आनंद नहीं ले सकते थे। पेट के लिये एक उधर टेकड़ी पर चोंच रगड़ता, दूसरा उस ठूंठ पर झख मारता, तीसरा वहां जंगल में भटकता। ये लोग अपने बैठने की जगहों में हद बनाते, उसके लिये लड़ते मरते, हकूमत का ख़याल रखते, अदब क़ायदे से बैठते।"

मेरे मित्र ने उस समय हँसकर मेरी बात टालदी। वे बहस करना नहीं चाहते थे। परन्तु बहुत समय तक उन पक्षियों का वह सौन्दर्य मेरे मस्तिष्क में घूमता रहा।

मैं जब पढ़े लिखे डिग्री पाए हुए युवकों को निस्तेज-मुख, पीला

गात, गढ़े में धँसी हुई आँखें, पिचके गाल, गद्‌गद्‌ वाणी, कांपते हाथों से जिस-तिस के दरवाजे पर अपनी लियाक़त की खुर्चन जेब में भरे भटकते और धक्के खाते देखता हूं तब वे पर्चा मेरी आँखों में तस्वीर की भांति आ बैठते हैं। मैं सोचा करता हूँ कि क्या मनुष्य ही के भाग्य फूटने को थे ? क्या अपमान और तिरस्कार का अभिशाप अभागे भारत के युवकों ही की क़िस्मत में था।

अब से ५०-६० वर्ष पूर्व प्रत्येक पुरुष पूरा क़द्दावर, पुष्ट, नीरोग और परिश्रमी होता था। प्रत्येक के चार-चार, छः-छः लक्कड़ के समान ठोस जवान बैठे होते थे। कोई निपूता नहीं था, एक जवान जब लकड़ी पकड़ता था तब ५० की मण्डली को भारी हो जाता था। आज लोगों में से सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति क्षीण हो रही है। यदि किसी के सन्तान होती भी है तो निस्तेज, मरी, गिरी, रोगी और अपाहिज। उन्हें वे स्कूल के मुर्ग़ीख़ाने में पिटने और गालियां खाने को भेज देते हैं। बेचारे फूल से बच्चे आँसू पीते हैं, ग़म खाते हैं, थर थर कांप कर दिन काटते हैं।

क्या कभी हमने इस बात पर भी विचार किया है कि क्यों इनसे मर्दानगी रूठ गई है, उठाव मसल डाला गया है, ये मुर्दे, कमज़ोर, रोगी और नपुंसक नौजवान घरों में पड़े पड़े टुकड़े तोड़ रहे हैं।

माता पिता समझते हैं कि बच्चों को स्कूल भेज कर हम उनकी शिक्षा की तरफ़ से बिल्कुल बेफ़िक्र हो गये और हमने अपने कर्तव्य का पालन कर लिया है। जो माता पिता अँग्रेज़ी

स्कूलों में अपने बच्चों को अन्त तक भेजते रहते हैं वे मानो आदर्श माता पिता हैं। पर किसी ने यह भी जाकर ग़ौर से देखा है कि वहाँ स्कूल में बच्चे किस भाँति क्या पढ़ते हैं ?

वे दुवले पतले बच्चे, मन मारे, डर से थर थर कांपते हुए, तख़्तों की बेञ्चों पर, सील भरे कमरे में अर्थहीन और अनावश्यक बातों से परिपूर्ण गंदी किताबों पर अनिच्छापूर्वक दृष्टि जमाये बैठे रहते हैं, उनके सामने साक्षात् दुर्भाग्य की मूर्ति, क्रोध के अवतार, महामूर्ख, टूटी लियाक़त, मगर लपलपाती बेत हाथ में लिये मास्टर साहेब (?) अपनी नौकरी हलाल करते बैठे रहते हैं। उनके पवित्र मुख से अलाय-बलाय जो कुछ भी निकले वह यदि लड़के की अक्ल में तत्काल जमकर न बैठ जाय तो फिर तड़ातड़ बेंतों की मार से ग़रीब बालक की खाल उधड़ जाती है। इसके बाद वह क़साई उसे मुर्ग़ा बना कर खड़ा कर देता है। गालियों की तो कोई चर्चा करना ही फ़जूल है। इस प्रकार छोटे लड़के पिटने के डर से, तथा बड़े लड़के परीक्षा में फेल होनेके डर से, शुरू से आख़ीर तक पढ़ते हैं। ऐन्ट्रेन्स तक पहुँचते पहुंचते वे प्रेमकी रसीली कविताऐं पढ़ना, आशिकी मजमूनके ख़त लिखना, मांगें निकालना, कालर टाई लगाना, पतलून पहनना, खड़े होकर मूतना और सिगरेट पीना तथा बाइसकोप देखना सीख लेते हैं। यदि वह किसी ग़रीब कारीगर, लुहार, सुनार, बढ़ई, दर्ज़ी का बेटा हुआ तो अपने पैतृक कार्यों में पिता की सहायता करना, अपने पैतृक कार्य में दिलचस्पी दिखाना उसके लिये घोर अपमान-जनक हो जाता है, उसके लिये सब से अधिक सम्मान जनक

बात किसी दफ़तर में क्लर्की की नौकरी मिल जाना है। वह गधे की भाँति पुस्तकों से लद कर कालेज जाता है और पागल की भांति रात दिन किताबें खोल कर बड़बड़ाया करता है।

किसी भी भाषा के साहित्य के भावों को हृदयङ्गम करने के लिये उस भाषा पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। एफ़० ए० तक की शिक्षा पाने पर भारतीय युवक कहीं इस योग्य होते हैं कि वे किसी तरह अंग्रेज़ी साहित्य के भावों को हृदयङ्गम कर सकें। इस तक पहुंचते-पहुंचते उन्हें पूरे १२ वर्ष लग जाते हैं। परन्तु इस बीचमें वे विचार और भावनाकी शक्तिसे कुछ भी काम नहीं लेते, इसलिये वह मुर्झा जाती है। उसका विकास नष्ट हो जाता है। विदेशी भाषा की पुस्तकों के भाव तब तक हृदयङ्गम नहीं हो सकते जब तक स्मृति का उदय न हो।

जब हम राम, कृष्ण, भीष्म के उपाख्यान पढ़ते हैं तब बराबर हमारे हृदयों में एक स्मृति का उदय होता है, और हमें उसमें कुछ स्वाद मिलता है, परन्तु भारतीय बालकको भारतके वातावरण से बिल्कुल ही प्रथक् वातावरण के देश के सम्बन्ध में कहाँ तक कल्पना का आनन्द प्राप्त हो सकता है? बी० ए० में पहुँच कर एक दम भावना की आवश्यकता पड़ती है, पर अब तक अविकसित रहने से जो भावना मुर्झा गई थी वह अब कहाँ से आवेगी? परिणाम यह होता है कि भारतीय युवक नोट याद करके ही लेखकों का मतलब समझने की चेष्टा किया करते हैं।

सब से भयानक एक बात जो हमारे युवकों के मस्तिष्क में अँग्रेजी तालीम ने पैदा करदी है वह यह है कि उनके आदर्श

उनके जीवनके अनुकूल नहीं रहे । शेक्सपियर के नाटकों और अन्य कवियों के ग्रन्थों में वे जैसी नायिका की तस्वीर मन पर अंकित करते हैं वैसी नायिका उन्हें सचमुच कभी नहीं मिलती। और जब ऐसे शिक्षित युवकका व्याह गांवकी एक मुग्धा बालिका के साथ होता है और वह स्वर्गीय प्रेम और लज्जा रूपी रत्न के ढेर को आँचल में छिपा कर उसके मार्ग में आती है तब वह उसे नहीं रुचती। आज इसी कारण अनगिनत गृह-कलह हमें भारतीय युवकों के गृहस्थों में देखने को मिलती हैं। माता पिता के साथ सहकुटुम्ब रहना उन्हें असह्य सा प्रतीत होता है।

इसके बाद जब वे एम० ए० में दर्शन, न्याय, कवित्व तथा साइन्स के महत्वपूर्ण सबक़ पढ़ा करते हैं, तब वे अपढ, गंवार, बाप भाई, अड़ौसी पड़ौसी को तुच्छ दृष्टि से देखा करते हैं, उन्हें मूर्ख समझते हैं, वे अपनेको अपने अभागे देशसे कहीं ऊंचा समझते हैं और इस देश में पैदा होना अपने लिये दुर्भाग्य की बात समझते हैं। पर जब पूरी किताबों को निगल कर, पास होकर, बाहर आते हैं और सार्टिफ़िकेट के बंडलों को दबा कर साहबों के दफ़्तरों में मक्खी की भाँति भिनभिनाते गुलामीको ढूंढ़ते फिरते हैं, और वहाँ फटकार, गाली, लात, घूंसा, जुर्माने और डिसमिस के चपेट खाकर साल ही भरमें ढीले होजाते हैं तब उन्हें पता लगता है कि कवित्व, तर्क, साइंस के सिद्धान्त यहाँ कुछ भी तो काम नहीं आ रहे! जगत भर का भूगोल, और दुनिया भर के बादशाहों की मृत्युतिथि कुछ भी तो काम नहीं आती। अतः वे अपनी योग्यता पर भरोसा न करके खुशामद पर बसर करते हैं और इसी के आसरे अपना

पतित जीवन काटते हैं। क्या कोई भी राष्ट्र ऐसे बेग़ैरत, अयोग्य, खुशामदी, पेटू और नामर्द जवानों से कुछ आशा कर सकता है ?

एक वार मैंने एक छोटी बच्ची को अँधेरे में बिल्ली की आँखें चमकते देखकर यह कहते सुना—अम्मा देख, बिल्ली के सिर में दो तारे हैं। एक वालक ने वड़े वड़े वादलों को देखकर कहा था—देखो, देखो, यह वैल हैं। एक छोटी सी वालिका ने अपने पितासे खेतों पर ओस की वूंद देखकर कहा था कि हाय ! हाय ! वेचारे रात भर रोते रहे हैं।

मैं पूछता हूँ कि यह कल्पना, यह उपमा, यह अलंकार क्या साधारण है ? यह विकास का वीज क्या इन वच्चों की उच्च प्रतिभा का द्योतक नहीं ? पर आप क्या समझते हैं कि वह कन्या गार्गी उभय भारती वन कर आर्य महिलाओं का गौरव वढ़ायगी। और ये वालक क्या वाल्मीक या कालीदास वन सकेंगे ? नहीं। वह कन्या किसी दरिद्र अर्धशिक्षित क्लर्क की जोरू वन कर शीत ठंड में जूठे वर्तन माँजती होगी, और वह वच्चा किसी आफ़िस में अफ़सरों की ठोकरों में क्लर्क की कुर्सी पर वैठकर मेज़ पर झुके हुए कागज़ों का मुँह काला कर रहा होगा।

हाय, भारत की सन्तान पैदा होते ही क्यों न मर गई। इसकी माँ ने वांझ होने की दवा क्यों न खा ली ? क्या हिन्दुओं के महान् राष्ट्र का निर्माण इन्हीं लोगों से हो सकता है ?

ऋषि दयानन्द का कथन था—" स एव देशः सौभाग्यवान् भवति, यस्मिन्देशे ब्रह्मचर्यस्य, विद्याया, वेदोक्त धर्मस्य यथायोग्यः प्रचारो जायते ।

आर्यसमाज के नेताओं ने इसी आदर्श पर गुरुकुलों की स्थापना की थी, पर शोक है, उनसे देश की वह आवश्यकता पूरी नहीं हुई, जिसकी देश में कमी थी। गुरुकुल के स्नातक भी आज साधारण दुर्बलताओं से परिपूर्ण युवक ही प्रमाणित हुए। महात्मा हंसराज ने लाहौर में डी० ए० वी० कालेज खोला, और पंडित मदनमोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय। पर ये सब उन्हीं जहरीले लड्डुओं पर चांदी के वर्क साबित हुए। ये स्कूल कालेज भी गुलामों की ढलाई की टकसालें साबित हुए।

जिन के जवान बेटे जनाने हो गये, जिनके बेटे पराई गुलामी के आसरे जी रहे हैं, जिनके बेटे पराई भाषा बोलते, पराया वेश धारण करते, पराया काम करते और पराये ढंग से रहते हैं, उन माता पिताओं को यदि उनमें गैरत है तो संखिया खा लेना चाहिए।

अथवा जिस शिक्षा-वेश्या ने हमारे नवयुवकों की छाती का खून चूसा है, असली आंखों की ज्योति मार डाली है, उनकी जवानी का रस पी लिया है, उसे अधमरा कर दिया है, और उसे धोबी का कुत्ता बना दिया है—उसका नाश कर डालिए।

अंग्रेज़ी सरकार को इस बात का बड़ा गर्व है कि उसने भारत में शिक्षा का प्रचार किया है। परन्तु जानने वाले जानते हैं कि फीसदी २·८ बच्चों को ब्रिटिश भारत में शिक्षा मिलती है। इस का अर्थ यह है कि लगभग कुल ६४ लाख लड़कों और १२ लाख लड़कियों को, इस प्रकार लगभग ७६ लाख बच्चों को शिक्षा दी जाती है। इनमें से लगभग ५५ लाख विद्यार्थी ४-५ साल पढ़कर छोड़ देते हैं जिनका पढ़ना न पढ़ना सभी बराबर है। उनमें १६

लाख तो पढ़ ही नहीं सकते। खत भी नहीं लिख सकते। इन आँकड़ों को निकालकर कुल २१ लाख आदमी शिक्षा पा रहे हैं जो हद दर्जे की भयानक कमी है।

इंगलैण्ड में जब १८७० में एज्यूकेशन एक्ट बना और शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य्य कर दी गई तो इंगलैण्ड में शिक्षितों की संख्या १२ ही वर्षों में सौ प्रतिशत होगई। इस समय इंगलैण्ड और वेल्स की ४ करोड़ की बस्ती में स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या ६० लाख है।

जापान में १८७३ के प्रथम स्कूल जाने योग्य बच्चों में फी सैकड़ा २८ स्कूलों में पढ़ते थे। २४ वर्षों में उनकी औसत ९६ हो गई और २८ वर्षों में शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य्य हो गई। वहाँ राष्ट्रीय विकास के लिये शिक्षा को महत्वपूर्ण माना जाता है और आज उस देश में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या १ करोड़ १० लाख के लगभग है जिनमें ९४ लाख विद्यार्थी छोटी कक्षाएें पास करके आध्यात्मिक शिक्षा पा रहे हैं। प्राथमिक विद्यालयोंका उद्देश्य बालकों को नैतिक शिक्षा देना और उन्हें सज्जन तथा जाति हितैषी बनाना है। साथ ही उनमें ऐसा ज्ञान और चातुर्य भरना है जिनका उपयोग वे अपने व्यवहारिक जीवन में कर सकें। उनकी शारीरिक उन्नति पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है और उन्हें विद्यालयों में केवल वैसी ही बातें सिखाई जाती हैं जो उनके दैनिक जीवन के लिये आवश्यक हों। बच्चों के आचार विचार पर नियन्त्रण रखना जापान के शिक्षक अपना कर्तव्य समझते हैं।

जापान में छठे वर्ष के प्रारम्भ होते ही शिक्षा का आरम्भ हो जाता है और ६ वर्ष तक प्राथमिक पाठ्य क्रम जारी रहता है। इसके बाद वे माध्यमिक विद्यालयों में २-३ वर्ष पढ़ते हैं। प्राथमिक विद्यालयों में नीति, धर्म, गणित, इतिहास, व्यायाम, ड्राइंग, दस्तकारी की शिक्षा अनिवार्य्य रीति से दी जाती है। उच्च शिक्षा में नीति, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गायन, व्यायाम और खेल कूद की शिक्षा अनिवार्य्य रहती है। इसके बाद ३ वर्ष के अतिरिक्त काल में गायन के स्थान पर लड़कियों को दस्तकारी और लड़कों को कृषि और व्यापार की शिक्षा दी जाती है। माध्यमिक विद्यालयों में अँग्रेजी भी शुरू कर दी जाती हैं। वहां कोई वैकल्पिक विषय नहीं है।

जापानके शिक्षा विभागके उच्चाधिकारियों का दृष्टिकोण यह है कि विद्यार्थी में आत्मनिर्भरता या स्वावलम्बन का भाव उत्पन्न किया जाय। वे नहीं चाहते कि हमारे देश के बच्चे पेट भर रोटी के लिये परमुखापेक्षी बनें और पेट भरने को जिस तिसका आसरा तकते फिरें। छात्र दुश्चरित्र न हो सकें इसका भरपूर ध्यान रक्खा जाता है और उन की मनोवृत्ति का बराबर अध्ययन किया जाता है।

नैतिक शिक्षा में उन्हें राज्य और समाज के प्रति उनका क्या कर्तव्य है यह जानना पड़ता है। उन्हें सच्चाई और आत्ममर्यादा के लिये मरना और जीना भी सिखाया जाता है। उन्हें यह भी बताया जाता है कि उन्हें सार्वजनिक हित के लिये बिना हिचकिचाहट के किस भांति अपनी सारी शक्ति, सारा उत्साह लगाना

अपना धर्म समझना चाहिये। पाठ्यक्रम में जापानी राष्ट्रीय साहित्य या भाषा का दूसरा स्थान है, इसमें गृह प्रबन्ध तथा घरेलू अर्थ-शास्त्र की शिक्षा दी जाती है। माध्यमिक विद्यालयों में मैन्सुरेशन, और बुककीपिंग भी पढ़ाया जाता है। इतिहास पढ़ाने का उद्देश्य भी छात्रों में देश भक्ति के उत्तम भाव भरना ही है। वहां भूगोल और इतिहास की पढ़ाई भारत जैसी नहीं होती—इतिहास में पूर्व राष्ट्र निर्माताओं के विस्तृत चरित्र और भूगोल में प्रत्येक प्रान्त और शहर की उपज के विवरण रहते हैं। यह भी बताया जाता है कि जापान का किस देश से किस प्रकार का सम्बन्ध है।

खेलकूद और व्यायाम की शिक्षा का ढंग बहुत ही उत्तम है। प्राथमिक स्कूलों में बच्चे की शारीरिक शिक्षापर बहुत ध्यान दिया जाता है। माध्यमिक विद्यालयोंमें फ़ौजी क़वायद भी सिखाई जाती है। उस समय सैनिक गान भी होते हैं और उस समय सबको स्फूर्ति और उत्साह से काम करना पड़ता है।

रूस ने नवीन जीवन प्राप्त होते ही अपने देश की शिक्षापर बड़ा भारी ध्यान दिया है। उसने इस सिद्धान्त को जान लिया है कि उच्च कोटि के नागरिक देश में तभी पैदा होंगे जब उन्हें ठीक शिक्षा दी जायगी। 'आज का छात्र कलका नागरिक है, यह एक अटल सिद्धान्त है।' इस समय रूस एक प्रबल शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है, और उसने अपने शिक्षा केन्द्रोंको खूब समुन्नत करना प्रारम्भ करदिया है। हाल ही में अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री मि० जेम्सवेड्डी रूस को दौरे को गये थे। वहां उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं का मुआइना किया था। उन्होंने लेनिनग्रेड के

एक विद्यालय का मुआइना किया था, उनके साथ एक कुमारिका स्त्री भी थी जो साम्यवादी थी। जब वे रूस का सिटी स्कूल देखने गये तो उन्होंने उस जिले को ग़रीब बताया। इस पर उस स्त्री ने उन्हें उसी क्षण जवाब दिया कि हमारे जिले ग़रीब होते ही नहीं। सब जिलों में मजदूर ही मजदूर हैं और सन १९३० के शिक्षा सम्बन्धी सुधार के अनुसार जो पंचवर्षीय कार्यक्रम निर्धारित किया गया है, उसका प्रधान लक्ष्य बच्चों को ७ वर्षतक प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा देना है। इसके बाद उन्हें औद्योगिक शिक्षा दी जायगी और उन्हें कारखानों में, दफ्तरों में और खलिहानों में शिक्षा लेनी पड़ेगी।

इस विद्यालय का निरीक्षण करने के बाद मि० वेड्डी ने लिखा है —

'उस विद्यालयमें दो हज़ार आठसौ बच्चे शिक्षा पाते हैं। उन की आयु सात और १५ के बीच है। सब से प्रथम उन्हें दलबद्ध होना सिखाया जाता है और संघ शक्ति की शिक्षा दी जाती है। एक भी विधर्मी अपने दल के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता। स्कूल के एक भाग में वर्गवादिनी अध्यापिकाएं लड़कियों को पढ़ा रही थीं,वे छोटी छोटी बच्चियाँ लाल स्याहीसे मोटे-मोटे अक्षरों में काग़ज़ पर इस आशयके वाक्य लिख रही थीं—'मजहब जहर है, बच्चों को इससे दूर रक्खो।" प्राथमिक स्कूलों में विज्ञान और शिल्पकी शिक्षा दी जाती है। शारीरिक शिक्षा का भी पूरा प्रबन्ध है। दस्तकारी की शिक्षा पूरी चतुराई से दी जाती है।

मि० वेड्डी आगे लिखते हैं—

"कामन रूम में मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम के सभी सामान मौजूद हैं, कमरे के दीवारों पर साम्यवाद के प्रणेता कार्लमार्क्स, लेनिन और स्टेलिन आदि राष्ट्र निर्माताओं के चित्र लटक रहे हैं। स्टेलिनकी तस्वीर तो रूसमें सर्वत्र ही दीख पड़ती है सब से ज्यादा जिन्दादिली दिखाई पड़ती है जलपान-घर में। रूस के विद्यालयों में साधारणतया १०-११ और १२ बजे तीन बार जलपान की छुट्टी होती है। वहां सब छोटे-बड़े छात्र प्रसन्नता-पूर्वक हँसते-हँसते जलपान करते हैं। कहीं तो सारे कमरे में रोटी के टुकड़े बिछ जाते हैं।

यहां ऐतिहासिक शिक्षा भी विचित्र रीति से दी जाती है। १५ और १८ वर्ष के बीच की आयु के बालक बालिकाऐं उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त तक होने वाले क्रान्तिकारी-आन्दोलन का इतिहास पढ़ते दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त मार्क्स के अर्थ नीति सम्बन्धी सिद्धान्त, समाजविज्ञान, विभिन्न वर्गों के संघर्ष आदि विषयों की पढ़ाई भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित है। किताबी शिक्षा को समाप्त करनेके बाद विद्यार्थी को प्रत्येक लिखित सिद्धान्त को व्यवहारमें परणित करना पड़ता है। कर्तव्यपालन में न केवल लड़के वरन् रूस की लड़कियां भी बहुत सतर्क रहती हैं। उन्हें सैनिक विज्ञान की शिक्षा दी जाती है। युद्ध कला सिखाई जाती है, और गैसमास्क द्वारा आत्मरक्षा भी।

जीवन, ख़ासकर मानवीय जीवन संघर्षमय है। जो जाति संघर्ष से थकती नहीं, और ऊबती नहीं, वही जीवित जाति है। संघर्ष की शक्ति और योग्यता प्राप्त करने की कुंजी शिक्षा है।

वह शिक्षा जो माता के समान पोषित करने वाली है, वेश्या के समान खून चूसने वाली नहीं, जिस शिक्षा से आत्मा का, शरीर का भला हो, देश की सेवा हो, वह शिक्षा मनुष्यों की माता है। हमें गुलाम क्लर्क बनने के जीवन को अस्वीकार करदेना चाहिये। हमें चमारों, दर्जियों, रङ्गरेजों, मनिहारों, कुम्हारों, सुनारों और खातियों के यहां झुण्ड के झुण्ड जाकर उनका काम सीखना चाहिये। हमें ईंटें-बनाना, चूना फूंकना, मशीन चलाना, खेती करना, इमारत बनाना सीखना चाहिए। हमें जुलाहे बनने की आवश्यकता है जिससे हम अपनी बहू बेटियों की लाज रख सकें।

यदि हम छोटे छोटे घरेलू धन्धों को अपनी शिक्षा का केन्द्र बना लेंगे तो हम यहां इस शैतानी कॉलेज की शिक्षा से बहुत अधिक सफलतापूर्वक अपने जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

---

(६)

भाषा भाव और वेश

कोई भी ग़ैर क़ौम की गवर्नमेण्ट ऐसा नहीं कर सकती कि वह अपनी पराजित की हुई और वश में आई हुई जाति की भाषा और भावों को स्वाधीन, उन्नत और समृद्धिशाली होने दे। विदेशी सरकार के लिये पराजित जाति के अपने भाव और अपनी भाषा वास्तव में भय की वस्तु हैं। समय के फेर में आकर बड़ी-बड़ी जातियां गिर कर तबाह हो जाती हैं। पर जो अपनी भाषा को और अपने भावों को नहीं त्यागतीं वे शीघ्र उठती और अपने नष्ट गौरव को प्राप्त होती हैं।

फ़्रांस पर जब जर्मनी ने बिस्मार्क के ज़माने में हमला किया था, तब जर्मन सभ्यता और शिक्षा फैलाने का बहुत बड़ा आयोजन फ़्रांस में किया गया था। स्थान-स्थान पर जर्मन भाषा पढ़ाने को स्कूल खोले गये थे, अदालतों में जर्मन भाषा प्रयोग की गई थी। और जर्मनी को बनी वस्तुएँ फ़्रांस के बाज़ारों में भर गई थीं। मगर फ़्रांसीसियों को जर्मन शब्द से क़ै आती थी। उन्होंने अपने बच्चों को पढ़ाना बन्द कर दिया और स्कूल बराबर ख़ाली पड़े रहे। बाज़ारों में जर्मन माल को देखकर प्रत्येक फ़्रांसीसी नाक सिकोड़ लेता था, ग़रज़ इस उद्योग में जर्मनी ने पूरी हार खाई।

आर्यों की प्राचीन सभ्यता जो हज़ारों वर्ष तक तत्कालीन

मुख्य मुख्य जातियों के अध्ययन की वस्तु बनी रही उसका कारण उन आर्यों की भाषा और भाव की मौलिकता तथा एकान्तता ही थी। आर्यों की भाषा और भावों का द्योतक सब से प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद अमिट प्रभावशाली है और आज तक उसकी मौलिकता वैसी ही है। उसके बाद यजुर्वेद और दर्शन शास्त्रों एवं अन्य आध्यात्मवाद के विषयों की भी मौलिकता आज तक बनी है। यहां तक कि घमण्डी यूरोप को उन विषयों के ज्ञान के लिये हार कर वे ही ग्रन्थ पढ़ने पड़ रहे हैं। जर्मन और इङ्गलेण्ड के विद्वानों के सामने जब बीसवीं सदी की आज की तारीख़ में भी हम उपनिषद्, दर्शन, अर्थशास्त्र, मीमांसा, ज्योतिष और वैद्यक के प्राचीन ग्रन्थ रक्खे देखते हैं, और हज़ारों वर्ष पहले मरी हुई आर्य सभ्यता के ध्वंसावशिष्ट भाषा और भावों को आदर पूर्वक मनन करते देखते हैं तो यह बात समझ में आजाती है कि जब आर्यजाति के दिन होंगे तब उसकी भाषा और भाव कितने अनुकरणीय और आदरणीय रहे होंगे।

इसका मुख्य कारण भाषा और भावों की मौलिकता है।

भाषा और भाव ये जातीयता को तोलने वाली तराज़ू के दो पलड़े हैं। भाषा के विषय में देश में कुछ समय से आन्दोलन उठा है और हिन्दी भाषा धीरे-धीरे राष्ट्र भाषा कहलाई जारही है। मद्रास में हिन्दी प्रचार का काम हो रहा है, बङ्गाल में होरहा है, दक्षिण और गुजरात में होरहा है। टूटी फूटी हिन्दी बोल कर प्रायः समस्त भारत में काम निकल सकता है। यह एक बड़े भारी संगठन का चिन्ह है। कल तक यह दशा थी कि कांग्रेस से लेकर साधारण

सभा में अङ्गरेज़ी बोलना एक शान की बात समझी जाती थी। बङ्गाली और महाराष्ट्र भाई यदि मिल जाते थे तो चाहे दोनों ब्राह्मण ही होते, पर भाषा भिन्न होने से परस्पर बात चीत अङ्गरेज़ी में किया करते थे। बहुधा शिक्षित लोग अकारण ही अङ्गरेज़ी बोलते थे। अङ्गरेज़ी शिक्षा ने कुछ जहर ही ऐसा घुसा दिया था कि अङ्गरेज़ी बोलने में मज़ा आता था, गौरव मालूम होता था। जो अङ्गरेज़ी नहीं जानते थे, अपने को किसी काम के योग्य न समझते थे। यह भाव अब बड़ी तेज़ी से कम होरहा है। कांग्रेस तक में अब हिन्दी भाषा सुनने को मिल रही है। फिर भी भारत की एक भाषा होना बहुत बड़ा प्रश्न है—बहुत ही बड़ा प्रश्न है। परन्तु उससे भी अधिक प्रश्न भाव का है। हम लोग अपनी भाषा को तो कुछ न कुछ बना रहे हैं, पर भावों की तरफ़ हमारा कुछ भी ध्यान नहीं है। हम अपनी भाषा में विदेशी भावों के गीत गा रहे हैं, यह एक घातक भूल है। अबतक अङ्गरेज़ी भाषा में ही अङ्गरेज़ी भाव थे, पर जब से हिन्दी भाषा राष्ट्र भाषा बनने लगी है तब से अङ्गरेज़ी पढ़े लिखे लोग अङ्गरेज़ी पुस्तकों का अनुवाद धड़ाधड़ हिन्दी भाषा में कर रहे हैं। उनका कोई अपराध नहीं है। उनके मस्तक में जो भाव हैं, अबतक जो उन्होंने सीखा है वही वे कह और लिख सकते हैं, यत्न करने से वे भाषा बदल कर हिन्दी कर सकते हैं, पर भावों को कैसे बदलें ?

नतीजा यह हुआ है कि जो जहर अङ्गरेज़ी भाषा ने अङ्गरेज़ी पढ़े लोगों के मस्तक में घुसेड़ कर उन्हें भारतीय भावों से दूर कर दिया, अब वही जहर साधारण हिन्दी पढ़े लिखे लोगों के

लिये भी सरल प्राय हो गया। क्या यह गम्भीर हानि का प्रश्न नहीं है।

हम यूरोपियन दर्शन शास्त्रों के अनुवाद देखते हैं। यूरोपियन अर्थशास्त्र-समाज पद्धति हमारे सामने दीखती है। फलतः हम धोती पहन और तिलक लगाकर, कुर्सी पर बैठकर सन्ध्या वन्दन और खान पान करते हैं, यहीं धीरे-धीरे हमारी भाषा बन रही है पर हमारे भाव नष्ट होकर हमारे हत्याकारियों के भाव हमारा वेश धारणकर हम में रम रहे हैं। मानो हमने शत्रु कन्यासे विवाह कर लिया है।

शिक्षा के साथ ही आजीविका का प्रश्न भी हमारे इस विपत्ति और नाश का कारण हुआ है। यही आजीविका का प्रश्न मुग़लों के कालमें भी था फ्रान्सीसियोंकी तरह मुग़ल कालमें फ़ारसी और अङ्गरेज़ काल में अङ्गरेज़ी सीखनेसे हमने क्यों घृणापूर्वक इन्कार कर दिया? कारण यह था कि हम ग़रीब और असहाय स्थिति में पड़ गये थे, सामाजिक जीवनका आसरा न रहा था, हमने ज़रूरतके लिये गधेको बाप बनाया और अब वही हमारा सच्चा बाप प्रसिद्ध हो गया है और हम गधे के बच्चे बन कर लज्जित हो रहे हैं।

"न वदेन् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठ गतैरपि"

इस वाक्य से पता लगता है कि जातीयता की कुछ-कुछ झलक मुग़ल काल में भी थी। परन्तु आज तो एक भी ऐसा पुरुष नहीं मिलता जो अङ्गरेज़ी पढ़ना उत्तम न समझता हो। मैंने ऐसे सज्जन देखे हैं जो यदि गीता भी पढ़ना चाहते हैं तो अंग्रेज़ी अनुवाद मंगाकर पढ़ते हैं। मेरी राय में इस से अधिक अधोगति कोई हो ही नहीं सकती। कौवा, कुत्ता, गधा, सूअर सबकी अपनी भाषा-

अपनी भाव भंगी होती है। भारतीयता मानो कोई वस्तु ही नहीं है। फिर वह राष्ट्र बनने का दावा कैसे करती है?

हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की भाषा और भावों में मैं एक जीवन पाता हूँ। उन्होंने फिर भी अङ्गरेज़ी को काम की भाषा और यूरोपियन भाव का बाज़ार समझ और बना रक्खा है। बहुत कम मुसलमान सज्जन उच्च अङ्गरेज़ी शिक्षा और पद पाने पर अपनी स्त्री बच्चों को लेडी बनाते देखे गये हैं। प्रायः मुसलमानों के स्त्री बच्चे तो सच्चे मुसलमान ही रहे हैं। पर हिन्दुओं की दशा देखिये कि ज़रा भी अङ्गरेज़ी शिक्षा पाने पर स्वाधीनता मिली कि उनके स्त्री बच्चों तक से हिन्दुत्व कोसों दूर भाग जाता है।

जहां बड़े-बड़े जज और सम्भ्रान्त मुसलमान परिवारों में मैंने छोटे-छोटे बच्चों को क़ालीन पर दोज़ानू बैठकर प्रातःकाल में क़ुरान शरीफ़ का सस्वर पाठ करते सुना है, वहां साधारण अङ्गरेज़ी पढ़े हिन्दू घरों में बच्चों को कोट, पतलून और बूट पहन कर अंग्रेजी प्राइमर पढ़ते देखा है, मानो उनके मां-बापको बड़ी उतावली है कि किसी तरह जल्दी यह सुन्दर भाषा इनके कण्ठ में उतार दी जाय।

इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि हम अपने जातीय जीवन से बहुत दूर जा पड़े हैं और पीढ़ियों से हमारे भाव और भाषा में से मौलिकता जाती रही है। मुद्दत से हम भाव और भाषा को सिर्फ़ आजीविका के लिये सीखते चले आये हैं, और आजीविका का प्रश्न अब धीरे-धीरे और भी जटिल हो रहा है।

हिन्दी भाषा की जो गति हो रही है और जिस तेज़ी से वह यूरोपियन आदर्शों से भर रही है, उसका परिणाम यह होगा कि

वह किसी के लिए पढ़ने की वस्तु नहीं रह जायगी। उदाहरण के लिए हिन्दी अखबारों की बात लीजिये। कोई आदमी जो अंग्रेजी पढ़ सकता है, हिन्दी अखबार नहीं पढ़ता क्योंकि वह जानता है कि थोड़ीसी अङ्गरेज़ी पढ़े व्यक्ति इसके सम्पादक हैं, उन्होंने अङ्गरेज़ी अखबारों से समाचार उठाकर उसमें छाप दिये हैं। दैनिक हिन्दी अख़बारों की तो वास्तव में यही दशा है। अङ्गरेज़ी साहित्य का जो विराट् रूप भारत में फैला हुआ है उसे देखकर बड़ा भय होता है। साफ़ बात यह है कि अङ्गरेजी भाषा और भाव जितनी बड़ी ज़बर्दस्त शक्ति भारत में उत्पन्न कर चुके है वह हमारी वर्तमान तैयारियों से नष्ट होने वाली नहीं है। उसके लिए एक बार हमें जूझ मरने तक को तैयार होना चाहिये।

हमारे और हमारे मित्रों के घरों में प्रायः फ़र्श दरी आदि का होता है, कुर्सी मेज़ भी यदि कमरे में हुई तो भी जूते पहन कर कमरे में जाना वाहियात समझा जाता है। वास्तव में अङ्गरेज़ लोग जो क़ालीनों पर मय जूते के फिरते हैं, उनके जूते गाड़ी मोटरों में चढ़ कर आते हैं और दिन में दो बार पालिश से चमचमाते हैं, स्वच्छ रहते हैं। परन्तु हमारे बूट नाम के बूट हैं, सदा पेशाब की गलियों की धूल फांक कर आते हैं, तलेमें कीचड़ गोबर लगा रहता है; पॉलिश तो महीनों में शायद ही कोई जैन्टिलमैन एकाध बार कराता हो। बहुत से तो फ़ीते भी नहीं बांधते। फिर वे जूते फ़र्श पर कैसे जा सकते हैं ? निदान उन्हें उतारने की भी दिक़्क़त निरन्तर रहती है। बार-बार तस्मे बाँधना, खोलना और छूना एक बेहूदा काम है। पर फिर भी बूट का प्यार नहीं छूटता है। क़ीमत

में तो वे देशी जूतों से अठगुने होते हैं। यही हाल पतलून, कालर और टाई का है। बैठने की तो क़सम है। घोर गर्मी में कॉलर, टाई बाँधना फाँसी से कम कष्टदायक नहीं है। सिर पर वेढब बालोंका गुच्छा रखना भी मालीखोलिया की बीमारी पैदा करने वाला है।

यह सब घोर अप्राकृत और दुखदाई वेश क्यों इतना पसन्द किया गया, और क्यों यहाँ तक रुचिकारक हुआ कि सत्याग्रह आन्दोलन के ज़माने में खद्दर की प्रतिज्ञा लेने वालों ने खद्दर के कोट, पतलून, टाई और कॉलर बनवाये ?

इसका कारण गुलामी है। अपने दिल में पराये भाव और पराई भाषा की जो बू घुसगई है उसीका यह फल है।

हमारी प्राचीन सभ्यता को अध्ययन करने के लिये जैसे पाश्चात्य विद्वान् हमारे दर्शन और उपनिषदों का पाठ करते हैं वैसे ही हम अपनी आज की भाषा हिन्दी को जब तक उतनी मौलिकता न प्रदान करेंगे, हम राष्ट्रीयता की इज़्ज़त को प्राप्त नहीं हो सकते और हम युद्ध की सच्ची सफलता को नहीं पा सकते।

यदि हम अपने भावों को सुरक्षित नहीं रख सकते तो इसमें सन्देह नहीं कि अपनी जातीयता को भी सलामत नहीं रख सकते। मैं आप का ध्यान इस्लाम की ओर आकर्षित किया चाहता हूँ। बहुत से मुसलमान योरोप में बसते हैं और राज्य भी करते हैं। मुसलमानों को योरोप के साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध स्थापित करने में भी कुछ उज़्र नहीं। यह उनकी जातीयता की खूबी है कि वे यदि किसी योरोपियन स्त्री से शादी करते हैं तो उसे मुसलमान बना लेते हैं। और वह मज़े में मुसलमानी सभ्यता के अनुकूल

पर्दे में रहती हैं। तुर्की साम्राज्य का वहुत पुराना दस्तूर था कि वहां किसी ईसाई को कोई पद नहीं मिलता था। तुर्की साम्राज्य में पद पाने के लिये अच्छा मुसलमान होना आवश्यक था। सैकड़ों वर्षों से हज़ारों जर्मन और अँग्रेज़ अपने देशों में विद्रोह करके या और कोई अपराध करके तुर्की में मुसलमान होगये और वड़े २ पद पागये।

क्या यह मुसलमानी भावों की दृढ़ता का चमत्कार नहीं है? परन्तु हिन्दुओं की दशा कैसी है, यह वात भी तो सोचिये। मुसलमान और ईसाई के साथ रोटी वेटी का सम्वन्ध जोड़ना तो स्वप्नमें भी सम्भव नहीं हो सकता, उनका स्पर्श तक करने में हिन्दू धर्म चला जाता है। यह भी असम्भव है कि हमारी योरोपकी यात्राएँ अब रुक जायँ। ज्यों ज्यों राष्ट्रीयता की पुष्टि होगी, शिल्प, कला और विज्ञान की वृद्धि होगी—त्यों त्यों संसार की सभी जातियों में घनिष्टता अवश्य वढ़ेगी। हमें फ्राँस, इङ्गलैण्ड, रूस और अमेरिका में जाना और रहना पड़ेगा। परन्तु ऐसा करके क्या हम हिन्दुत्व को, जो हमारी राष्ट्रीयता की रीढ़ की हड्डी है, क़ायम रख सकते हैं? यह सव से गम्भीर सवाल है।

पढ़ने या मज़दूरी को जो भारतीय योरोप और अमेरिका में जाते हैं वे जहाज़ पर ही योरोप की भाषा और वेश को अपना लेते हैं! लौटने पर सदा के लिये उनके जीवन में योरोप की भावना वस जाती है।

अव यह विचारने की वात है कि यदि यह यातायात वढ़ा और हमारी भावना दृढ़ न हुई तो हमारे लिये भयानक जीवन

आजायगा। इधर हम मूर्ख, दरिद्र और निकम्मे होकर भी अपने कंगाल घरों में योरोपके फ़ैशन के गुलाम धीरे धीरे बन रहे हैं। मेज़, कुर्सी, कालर टाई,बूट और पतलून जब प्रत्येक घरों में दीख रही है तब हम योरोप से लौट कर यदि योरोपियन सभ्यता का चित्र साथ लावें तो आश्चर्य की क्या बात है? इससे हमारी जातीयता अवश्य मिट्टी में मिल जावेगी।

सोचने की बात यह है कि मुसलमान योरोप में रहकर, योरोपियन स्त्री से व्याह करके कैसे सच्चे मुसलमान बने रहते हैं। वे उधर योरोप को पचा जाते हैं, इधर हिन्दुओं को हज़म कर जाते हैं।

हिन्दुओं में सिर्फ़ यही कमी नहीं है कि वे अन्य जातियों से एकान्त और अछूत बने हुए हैं। वरन् एक बड़ा भारी दोष हिन्दू समाज के मन्दिर में यह भी है कि उसमें से निकलने का मार्ग है घुसने का नहीं है। छल से या बलसे अगर कोई हिन्दू मुसलमान या ईसाई बना लिया जाय तो उसे वापस लेने की चेष्टा करना तो दूर रहा, उसे हिन्दू सर्वथा त्याज्य कह कर धकेल देते हैं। यहां तक उनमें साहस का अभाव है कि यदि वे स्वयं हिन्दू समाज में आनेकी चेष्टा करते हैं तो हम उन्हें मिला और पचा नहीं सकते।

ऋषि दयानन्द ने बड़ी वीरता और साहस से इस काम को स्वयं किया और उनके पीछे आर्यसमाज ने भी प्रारम्भ में दो चार शुद्धियां कीं। परन्तु उस समय तक आर्यसमाज की बुनियाद थोदी थी, क्योंकि वह एक डिबेटिंग क्लब था, और साम्प्रदायिकता की बुनियाद पर था। उसका प्रत्येक सदस्य अपनी अपनी बिरादरी में घुसा हुआ था। फल यह हुआ कि जो मुसलमान शुद्ध होकर आर्य-

समाज में आये, वर्षों तक बाहर खड़े रहे, मगर हिन्दू घरों में उन्हें जगह नहीं मिली। वे फ़िर वहीं मुसलमान धर्ममें लौट गये। आज आर्यसमाज का रंग कुछ बदला है। उसमें राष्ट्रीयता उत्पन्न हो रही है और फलस्वरूप जो सामूहिक शुद्धियाँ हुई हैं, उनके प्रभाव पुरानी शुद्धियों की अपेक्षा अधिक व्यापक हुए हैं। स्वामी श्रद्धानन्द के उद्योग से एक समय ऐसा आगया था कि लाखों मुसलमान हिन्दू समाज में घुसने को तैयार होगये – वे देर तक हिन्दुओं के द्वार पर खड़े रहे—पर हिन्दुओं ने उनके लिये अपना दर्वाज़ा नहीं खोला।

पंजाब केसरी महाराज रणजीत सिंह की कुछ रानियाँ मुसलमान थीं, सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यूनान की एक रमणी से विवाह किया था। आज भी ऐसे उदाहरण दीख पड़ते हैं। परन्तु बहुधा उनके परिणाम शुभ नहीं होते।

आज जिन भारतीयों ने अपने विवाह योरोपियन स्त्रियों से किये हैं उन के रहन सहन योरोपियन होगये हैं। इस का कारण यही है कि हमारे अन्दर अपने निजी भावों की कमी है।

भाषा के साथ ही भाव हैं। भाव ही हमारी राष्ट्रीयता की सम्पत्ति है और वेश हमारा राष्ट्रीय चिन्ह है। भारत जैसे धर्म प्रधान देश में रहकर भी योरोपियन अपना असुविधाजनक वेश नहीं त्यागते। इसका नतीजा यह है कि हम उस वेश को धारण करने लगे हैं। अपनी भाषा, अपना भाव और अपना वेश, यही तीनों हमारी जातीयता की रक्षा कर सकते हैं।

———

(१०)

बेटी-रोटी का विश्वव्यापी सम्बन्ध

हाँ, मैं बिना किसी हिचकिचाहट के साहस पूर्वक आपको यह सलाह देता हूँ कि आप तुरन्त संसार भर की जातियों से बिना किसी भेदभाव के रोटी बेटी के सम्बन्ध जारी करदीजिये।

पृथ्वी भर के मनुष्यों की एक ही जाति है। शास्त्रकार कहते हैं—'समान प्रसवात्मिका जाति'। जिसका एक ही रीतिसे प्रसव हो वही जाति है। देशकाल और परस्पर के सम्बन्ध के चिन्ह के कारण मनुष्यों के आचार विचार और रहन सहन बदल गये हैं। परन्तु ज्योंही मनुष्य-जाति मात्र में रोटी बेटी के सम्बन्ध फैल जावेंगे ये समस्त भेदभाव अधिकांश में दूर हो जावेंगे। यदि कुछ बच रहेंगे तो भी उनसे संसार की किसी बुराई की आशा न रहजायगी। प्रकृति इस प्रकार के सम्बन्धों का विरोध नहीं करती। संसार की किसी भी जाति का पुरुष ससार की किसी भी जाति की स्त्री के साथ मिलकर उत्तम सन्तति उत्पन्न कर सकता है। आवश्यकता सिर्फ़ इस बात की है कि स्त्री पुरुष दोनों का स्वास्थ्य, स्वभाव, गुण कर्म समान हों। यह बात क़तई झूठ है कि एक ब्राह्मण पुरुष और ब्राह्मण स्त्री का गुण कर्म स्वभाव बिलकुल एक सा होना ही चाहिये और यह बात भी मूर्खता पूर्ण है कि एक ब्राह्मण स्त्री और एक योरोप के पुरुष का गुण कर्म स्वभाव

समान नहीं हो सकता । मैं वर्णसंकरत्व के सिद्धान्त को मानने से इन्कार करता हूँ । मैं चाहता हूं कि सारे संसार की मनुष्य जाति में अब वर्णसंकर ही बच्चे पैदा होने चाहिए। मनुष्य जाति की नस्ल को सुधारने का यही एक मात्र उपाय है जो विज्ञान और प्रकृति के सिद्धान्तों के आधार पर है ।

जब आर्यों ने उत्तर के उत्तुङ्ग हिम गिरि शिखरों से उतर कर आर्यावर्त्त में पैर रक्खा, तब यहां के मूल निवासियों से उनका भारी संघर्ष हुआ । वे लोग काले, कठोर, क्रूर कर्मी और साहसी थे । कामशास्त्र बताता है कि ऐसे दुर्गुण युक्त जाति की स्त्रियों से यदि मेधावी पुरुष सन्तान उत्पन्न करें तो उनकी सन्तान सुन्दर, बलिष्ठ, दीर्घजीवी और विश्व विजयी होगी । आर्यों का बड़ा जोर था—उनमें विवेक और विचारशीलता बहुत थी, वे प्रकृति और उसके विकास पर मनन करते थे । उन्होंने इन मूल निवासियों की स्त्रियों से विवाह सम्बन्ध कर लिये और कुछ ही पीढ़ियों में आर्यों के प्रतापी पुत्रों ने भारत की स्वर्ण भूमि को अपनी सभ्यता और विशेषता से ओतप्रोत कर दिया । आर्य जाति की इतनी प्रखरता का कारण मैं निस्सन्देह मूल निवासियों में उनके रोटी बेटी के सम्बन्धों का जारी रहना समझता हूँ । भारतकी मूल जाति की स्त्रियों से विवाह करने से ही आर्यों की नस्ल में बहार आगई । उनका सौन्दर्य और मेधा शक्ति बढ़ गई । प्राचीन यूनान, मूर, रोमन और अरब लोगों ने भी यह प्रयोग विजित जातियोंके साथ किया और उसका फल हाथोंहाथ पाया । अरबोंकी विश्व विजय के दो ही रहस्य हैं, एक उनकी दुर्धर्ष

तलवार दूसरी विजित जाति की स्त्रियों से विवाह। जिस समय अबू उबैदाने साक़ीट आफ़ नगर फ़तह कर लेनेकी खबर ख़लीफ़ा उमर के पास भेजी थी, तब उसने उसे कोमल शब्दों में मलामत दी थी कि तूने वहां की औरतों के साथ अरब सिपाहियोंको क्यों नहीं व्याह करने दिया? वे शब्द आज्ञा पत्र पर इस ढंगके थे कि उनका यह स्वयं अर्थ निकलता था कि यदि वे लोग सीरिया में ब्याह किया चाहते हैं तो उन्हें कर लेने दो, उन्हें जितनी लौंडियों की जरूरत हो उतनी वे रख सकते हैं।

यह इस्लाम के बहुविवाह के कानून की बुनियाद थी कि पराजित देशों से स्त्रियां अपहरण की जायं। ऐसे दम्पतियों की सन्तान हमेशा विजयी पिता पर गर्व किया करती है। सीरिया में इस व्यवस्था को जारी किये एक ही पीढ़ी हुई थी कि ख़लीफ़ा के अफ़सरों ने उसे सूचना दी कि जो राज्यकर विधर्मियों से लिया जाता है बंद कर जाय क्योंकि इस देश में पैदा हुए सब बालक मुसलमान हैं।

आज भारत की कुलीन जातियाँ अपनी जात पाँत के दायरे में बुरी तरह फँसी हुई हैं, फलतः बंगाल के उच्च ब्राह्मणों को और यू० पी० और बिहार के कुलीन ब्राह्मणों और वैश्यों को आप एक सिरे से देखते चले जाइये, ये कितने बौने, कमजोर, कुरूप और निस्तेज बच्चे पैदा कर रहे हैं। जिस जाति में रोटी-बेटी का सिलसिला जितना तंग है वह जाति उतनी ही नष्ट हो रही है, उसकी नसल में से जीवन जा रहा है। लोग कहते हैं कि भारत की नस्ल बर्बाद होने और अकाल मृत्यु होने का कारण

भारत की दरिद्रता है। मैं कहता हूँ इसका कारण विवाह सम्बन्धी संकोचशीलता है। भारतके दरिद्र और नीच जातिके लोग अल्पायु नहीं है। उच्च जाति के लोग ही अल्पायु हैं। यू०पी०, विहार और बंगाल की वे नीची जातियां जिनमें जाति की मर्यादा के पालन की वैसी कड़ी ताकीद नहीं है, सुन्दर और उन्नत हैं। वनस्पति और पशुओं में भी जब दोगली नस्ल पैदा की जाती है, तब उन की उत्तमता बढ़ जाती है। केवल भिन्न-भिन्न जातिके फलोंके मिश्रण से अनेक मधुर और उत्तम फल तैयार किये गये हैं। यह बात गधा ही कह सकता है कि ब्राह्मण और शूद्र में उतना ही अन्तर है जितना गधे और घोड़े में। ब्राह्मण और शूद्र वास्तव में एक ही जाति और एक ही नस्ल के जीव हैं, और उनके रोटी बेटी के सम्बन्ध तत्काल जारी होने चाहिये।

मैं प्राचीन आर्यों की रीति-नीति पर यहां प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ। वेद जो पृथ्वी में सबसे प्राचीन पुस्तक हैं, इस बात को प्रकट करते हैं कि ऋग्वेद के जो महान् और पवित्र ऋषि हैं, उनकी कोई खास जाति न थी। वे संसारी मनुष्य थे जो सर्व साधारण से मिले हुए थे। वे उन से विवाह करते थे, उनके युद्धों में लड़ते थे और उन्हीं के एक अंग थे। एक रण-प्रिय ऋषि एक ऐसे पुत्र के लिये आराधना करता है जो युद्ध में शत्रुओं को विजय करे। (ऋ० म० ५। सू० २३। रि० २) दूसरा ऋषि धन खेत तथा ऐसे पुत्रों के लिये प्रार्थना करता है,जो शत्रुओं का नाश करें (ऋ० म० ६। सू० २०। ऋ० १) तीसरा ऋषि धन, स्वर्ण, घोड़े, गाय और बहुत सा अन्न तथा सन्तान की

इच्छा करता है। (ऋ० म० ९, सू० ६९। ऋ० ८।)। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद में वर्णित ऋषियों की कोई जाति नहीं है। वे साधारण समाज के एक प्रतिष्टित अंग हैं।

प्राचीन कालमें जाति भेद न होने का यह अच्छा प्रमाण है। ऋग्वेद में दस हज़ार ऋचायें हैं। मैं दावेके साथ बारंबार कहता हूँ कि उनमें एक स्थान पर भी जाति भेद का ज़िक्र नहीं है।

ऋग्वेद में सामाजिक जीवन के सभी विषयों का प्रौढ़ वर्णन है। कृषि, चराई, शिल्प, युद्ध, घरू नियम, स्त्रियों की स्थिति आदि के जब ठीक वर्णन हैं तब जाति भेद का वर्णन क्यों नहीं है? जहाँ उत्तरकालीन छोटी से छोटी पुस्तकों में जाति भेद के वर्णन को सब से अधिक प्रधानता दी गई है, वहाँ ऋग्वेद की दश हजार ऋचाओं में कहीं एक स्थान पर भी उसका वर्णन हमें नहीं मिलता। इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि उस काल में जाति भेद न था। वर्ण का उल्लेख जो पुरुषसूक्त में आया है उसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। यहां हम इस बात पर फिर ज़ोर देना चाहते हैं कि 'वर्ण' शब्द जाति के अर्थों में आज हिन्दू लोग काम में लाते हैं पर उस समय वह आर्यों और अनार्यों में भेद करनेके लिये प्रयोग किया गया था, आर्यों की भिन्न भिन्न जाति के उल्लेख के अर्थों में नहीं आया (ऋ० मं० ३। सू० ३४। ऋ० ९ आदि)।

इसके विरुद्ध (ऋ० मं० ९। सू० ११२। ऋ० ३) में ऐसे उदाहरण हैं जिनमें एक ही परिवार में भिन्न भिन्न व्यवसाय वाले जिन्हें आज तक जाति कहा जा सकता है रहते हैं और वे अपने को आर्य समझते हैं।

जब उत्तर कालीन हिन्दुओं ने जाति व्यवस्था बना ली तब उन्होंने इन प्राचीन ऋषियों को नवीन जाति में सम्मिलित करने के लिये मनगढ़न्त जाति बना ली। उदाहरण के लिये विश्वा-मित्र का कोई वर्ण नहीं था। वह योद्धा और ऋषि थे और सूक्तकार थे। उत्तरकालीन हिन्दुओं ने उनके सम्बन्ध में एक पौराणिक गप्प गढ़ ली कि वे पहिले क्षत्रिय थे और फिर ब्राह्मण हो गये। हम अन्यत्र इस बात को साबित कर चुके हैं कि यह कोरी गप्प है। वे न कभी क्षत्रिय थे और न ब्राह्मण बने। वे ऋषि थे और ऋषि ही रहे।

प्रो० मैक्समूलर अपने 'Chips from a German work-shop' Vol. 11 (१८६७) के ३०७ वें पृष्ठ पर लिखता है—

"अब यदि हम लोग इन सब प्रमाणों पर ध्यान देकर यह प्रश्न करें कि जाति, जैसा कि मनु के ग्रन्थों में अथवा आज-कल है वेद के प्राचीन धर्म का अङ्ग है, अथवा नहीं तो हम को निश्चय इसके विषय में 'नहीं' कहना पड़ेगा।"

प्रो० वेबर, जो योरोप के प्रख्यात वेद पण्डित माने जाते हैं अपने 'Indian Literature' में लिखते हैं—

"अब तक जातियाँ नहीं थीं। अब तक लोग एक में मिल कर रहते थे और एक ही नाम (विसस) से पुकारे जाते थे।"

डा० रॉथ साहब, जिन्होंने प्राचीन वेद साहित्य की खोज में जीवन नष्ट किया अपने 'Quoted in Miner's Sanskrit Texts' Vol.1 (1972) में लिखते हैं—

"वैदिक काल में छोटे छोटे राजाओं के पुरोहित ब्राह्मण कह-

लाते थे। परन्तु उनकी कोई अलग जाति नहीं बनी थी।······
परन्तु महाभारत के जमाने में इन्हीं ब्राह्मणों की एक ऐसी जाति बन गई थी और उनके ऐसे प्रबल दल बन गये थे कि उनके घरानों ने समाज के जीवन के प्रत्येक विभाग में अपना आधिपत्य जमा लिया था और वह अब एक जुदी जबर्दस्त जाति बन गई थी।"

यूरोप के ये तीनों विद्वान् वेद विद्या के विख्यात आचार्य माने जाते हैं और तीनों का मत हमने यहाँ दे दिया है। विवाह के जो मन्त्र हम को वेद में मिलते हैं उनमें भी ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलता कि इस बात को प्रमाणित करे। वास्तव में स्त्रियों के विवाह की मर्यादा का हम यहाँ एक मन्त्र का भाव देते हैं। जिस में जातिबन्धन नहीं है।

'ईश्वर करे ये स्त्रियां विधवापन के दुःखों को न सहें, इन्हें अच्छे और मनमाने पति मिलें और ये उनके घरों में नेत्रांजन और मक्खन सहित प्रवेश करें। इन्हें बिना रोए हुए और बिना दुःख के अमूल्य आभूषण पहिन कर पहिले उस घर को जाने दो।'

अब विचारने की बात यह है कि आगे चल कर जो जाति भेद आर्यों में हुआ उसका मुख्य कारण क्या हो सकता है। यहां हम आर्यों की एक अद्भुत बात का उल्लेख करते हैं जो संसार की किसी भी जाति में देखने को नहीं मिलती। वह यह है कि वे सैकड़ों वरन् हजारों वर्ष तक बाहरी लोगों से बिल्कुल प्रथक रहे। गंगा यमुना के उपजाऊ तटों पर उन्हें ५-६ शताब्दियों तक शान्तिपूर्वक रहने का अवसर मिल गया। इस बीच में उन्होंने सभ्य राज्य निर्माण कर लिये तथा दर्शन, विज्ञान, साहित्य और शिल्प की

बहुत कुछ उन्नति की। इन्हीं शान्त किन्तु दुर्बल करने वाले प्रभाव ने उन्हें सामाजिक वर्गों में प्रथक प्रथक कर दिया और वे जातियों में विभक्त होगये।

वैदिक काल के पीछे के समय यज्ञ के पुरोहितों ने उसे पैतृक धन्धा बना लिया था और धार्मिक रीतियों के आडम्बर बढ़ गये थे। और धर्माध्यक्ष लोगों का प्रभाव बहुत हो गया था। और वे अलग जाति बन गई थी। वे जीवन इन विधानों के सीखने में लगाते थे और वंश परम्परा से यही कार्य करते थे।

राज्याधिकार ने भी परस्पर की विजयों से विजयी लोगों की एक प्रथक जाति बना ली थी। वे मनुष्यों के रक्षक और नायक माने जाते थे। इस लिये स्वाभाविक तौर पर यह होना ही था कि उनकी कन्याएँ सर्वसाधारण में न व्याही जाकर समान स्थिति के पुरुषों को व्याही जायें। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग अपने इस नियमों के द्वारा समाज से प्रथक होगये यहाँ तक कि दीनातिदीन ब्राह्मण भी सम्पन्न अन्य जाति के पुरुष से अपनी पुत्री का विवाह नहीं कर सकता था।

ठीक भारत ही की भाँति प्राचीन काल में योरोप में भी यही जाति भेद प्रचलित हो गया था और इसका कारण भी वही था जो भारतवर्ष में था, अर्थात जनसाधारण की दुर्बलता और योद्धाओं तथा धर्माचार्यों की प्रबलता। जब रोम का राज्य विनष्ट हुआ और सरदार तथा बैरन लोग योरोप में अच्छे से अच्छा स्थान ग्रहण कर रहे थे तब सर्वसाधारण में तनिक भी राज नैतिक उत्साह न था। न उन्हें कोई राजनैतिक स्वाधीनता

ही थी। योरोप में प्रबल पादरियों तथा सैनिकों और निरुत्साही दुर्बल सर्वसाधारण में जितना अधिक मत-भेद रहा उतना कभी कहीं नहीं रहा। वहां जगह जगह गढ और क़िले दीख पड़ते थे—तथा दीन शिल्पियों और किसानों के साथ गुलाम जैसा व्यवहार किया जाता था।

ठीक यही दशा मध्यकाल के भारत में रही। पुरोहितों और क्षत्रियों ने मिलकर जनसाधारण को, खास कर किसानों और शिल्पियों को, पीस डाला और उनके राजनैतिक तथा सामाजिक सभी अधिकारों को इतना नगण्य कर दिया कि वे फिर समाज में मनुष्य भी न रह गये।

ऐसी अवस्था में घमण्डी पुरोहित और योद्धा कैसे उनसे रोटी बेटी का सम्बन्ध जारी रख सकते थे? इस प्रकार जाति भेद को बनाये रखने के लिये भारतीय ग्रन्थ निर्माताओं ने बहुत सी काल्पनिक बातें गढ़ीं। पर सर्वोपरि बात तो यह थी कि भिन्न भिन्न व्यवसायों के आधार पर ही जातियां निर्माण की गई थीं। वायु-पुराण में ऐसाही वर्णन है। रामायण के उत्तराकाण्ड के ७४वें अध्याय में लिखा है कि सतयुग में केवल ब्राह्मण ही लोग थे। त्रेता में क्षत्रिय उत्पन्न हुए और फिर चार जातियाँ बनीं। महाभारत में शांति पर्व १८९ अध्याय में भी यही चर्चा आती है और भिन्न भिन्न जातियों के बँटने का कारण रूप गुण की भिन्नता बताई है।

स्मरण रखने योग्य बात यह है कि ज्यों-ज्यों आर्य जाति गङ्गा के तीरों पर बसती गई; जाति-भेद दृढ़ होता गया। परन्तु बहुत काल तक भी ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में परस्पर विवाह होते

रहे। इस समय तक आर्य जाति भिन्न भिन्न जातियों में बँट तो गई थी, पर उनके अन्तः संगठन एक ही थे। वे अपनी एक ही जाति समझते, एक ही धर्म की शिक्षा पाते, एक ही पाठशाला में पढ़ने जाते, उनका एक ही साहित्य और कथानक था। वे सब एक साथ मिलकर खाते पीते थे, और परस्पर विवाह सम्बन्ध भी करते थे, और सब मिलकर अपने को आर्य जाति कहने में अपना गौरव समझते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता लगता है उस समय भी जाति भेद का सख्त नियम न था। शतपथ ब्राह्मण (११ । ६ । २ । १) और ऐतरेय ब्राह्मण (१ । १९)में इलुवर के पुत्र 'कवप' का वृत्तान्त दिया गया है जिसे धूर्तदासी का पुत्र कह कर यज्ञ से निकाल दिया था, पर देवताओं ने उसे ऋषियों की पंक्ति में स्थान दिया था। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् (४ । ४) में सत्यकाम जाबाल की कथा में भी इसी प्रकार के भाव प्रदर्शित किये गये हैं।

यहां हम यह भी प्रकट कर देना चाहते हैं कि यज्ञोपवीत जो बड़ी जातियां अपनी उच्चता के प्रमाण स्वरूप धारण करती हैं, प्राचीन काल में आर्य सदैव नहीं धारण करते थे। शतपथब्राह्मण में (२ । ४ । २) में लिखा है कि जब सब लोग प्रजापति के यहां आये तो देवता और पितृ लोग भी यज्ञोपवीत पहने हुए आये। कौशीतकि उपनिषद (२।७) में लिखा है कि सब को जीतने वाला कौशीतकि यज्ञोपवीत पहिनकर उदय होते सूर्यकी पूजाकरता है।

प्राचीन काल में यज्ञोपवीत को द्विज लोग केवल यज्ञ के समय ही में पहनते थे। आजकल यह जनेऊ अन्य जातियों में

चाबियों के गुच्छे लटकाने और ब्राह्मणों में क़सम खाने के काम आता है।

ऐतरेय ब्राह्मण (१ । ८ । ३ । ६) में एक वाक्य है जिसका अर्थ यह है कि '३।४' पीढ़ी तक आत्मीय सम्बन्धियों में विवाह करने की मनाही है। इसीलिये भोगने वाले और भोगने वाली दोनों एक ही मनुष्य से उत्पन्न होते हैं।" "क्योंकि सम्बन्धी प्रसन्नता पूर्वक यह कह कर एकत्र होते हैं कि तीसरी चौथी पीढ़ी में हम फिर एकत्र होंगे—इस प्रमाण से भी प्रतीत होता है कि जाति भेद की व्यवस्था उस समय न थी।"

महाभारत के वनपर्व में एक मनोरंजक बात चीत है। सर्प रूपी नहुप राजाने जब युधिष्ठिर से पूछा कि ब्राह्मण किसे कहते हैं तो युधिष्ठिर ने कहा—

'सत्य, दान, क्षमा, शील, दया, तप, और करुणा जिसमें दिखाई दें वही ब्राह्मण है।'

सर्प ने फिर पूछा—ये गुण तो शूद्र में भी पाये जाते हैं, यदि वृत्त और शील ही चातुर्वर्ण का सिद्धान्त है,तो कैसे काम चलेगा?

तब युधिष्ठिर ने साफ़ २ कहा—

'शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्यं, द्विजे तच्च न विद्यते।
नैव शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥'

अर्थात्—शूद्र में यदि वे गुण विद्यमान हों और ब्राह्मण में न हों तो न वह शूद्र शूद्र है और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण ही है।

नहुप ने फिर पूछा—जब वृत्तत्व ही ब्राह्मणत्व है तब जाति का झगड़ा कैसा है?

युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—

जातिश्च महासर्प, मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात्सर्व वर्णानां, दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥
सर्वे सर्वा स्वयत्यानि, जनयन्ति सदानराः ।
वाङ् मैथुन मयो जन्म मरणं च समो नृणाम ॥
इदमार्ष प्रमाणं च 'ये भजामह, इत्यपि ।'
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्मे तत्वदर्शिनः ॥
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
संकरस्तत्र राजेन्द्र, वलवान प्रसमीक्षितः ।

(महा० वन० अ० १८९)

हे, महासर्प, एक मनुष्यत्व ही महा जाति है, वर्णों के संसर्ग से अन्य जाति का निर्णय करना महा कठिन है, सब लोग सभी स्त्रियों में सन्तान पैदा करते हैं, और वाणी, जन्म, मरण सबका एक है, फिर 'ये भजामहे' यह आर्ष प्रमाण है, इसलिये तत्वदर्शी लोग एक शील को ही प्रधानता देते हैं, और भी, अगर वृत्त ही नहीं, तो केवल वर्णों से ही क्या अर्थ निकलेगा। उसमें भी, हे राजेन्द्र, इस समय तो संकर अधिक ही देखने में आता है।

इस प्रवचन से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि वास्तव में एक मनुष्यत्व ही मनुष्य की जाति है और इस महा जाति में से सभी भेद भाव नष्ट होजाने चाहिए।

रामायण छुआछूत के प्रश्न पर काफ़ी प्रकाश डालती है। वर्तमान, अछूत जातियां तो उस काल में थीं ही नहीं। परन्तु कुछ जातियों को अस्पृश्य समझा जाता था, जिनमें निषाद और भील

जातियां भी थीं। निषादराज गुह और शवरी के आतिथ्य को श्रीरामचन्द्रजी ने ग्रहण करके यह प्रमाणित किया था कि उस समय इस प्रकार का भेद भाव न था। वाल्मीकि ने अयोध्या काण्ड श्लोक ३५ वें में लिखा है।

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूराद्उपस्थितम्।
सह सौमित्रिणारामः समागच्छ गुहेन सह॥

इसका अभिप्राय यह है कि निषाद राज गुह को देखकर राम और लक्ष्मण आगे बढ़े और उससे भुज भरकर आलिंगन किया तथा कुशल समाचार पूछा।

शवरी जाति की भिल्लनी थी। राम लक्ष्मण ने न केवल उसका भोजन ही किया किन्तु जूठे फल भी खाए।

एकमुक्त्वा महा भागैस्तदाहं पुरुषर्षभ।
मयातु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ॥
तवार्थे पुरुष व्याघ्र पंपायास्तीर सम्भवम्।

(वा० स० ७४ श्लो० १७।१८।)

इसी प्रकार के श्लोक पद्मपुराण में भी हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि राम ने शवरी के जूठे बेर खाए थे। और आज तक प्रत्येक हिन्दू उनकी इस उदारता को प्रशंसा और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है।

महाभारत में शूद्र ऋषियों की कम चर्चा नहीं जिनकी भारी प्रतिष्ठा थी। व्यास शूद्र जाति के समझे जाते थे। शान्तनु ने धीवर की कन्या से विवाह करके इस बात का प्रमाण दे दिया कि उस काल में राजा भी जात पांत की परवा न करते थे।

महाभारत के राजसूय यज्ञ के वर्णन यदि आप पढ़ेंगे तो आप को पता लगेगा कि उस यज्ञ में भोजन शाला में काम करने वाले तथा भोजन पकाने वाले, परसने वाले और जिमाने वाले, जितने कर्मचारी थे वे सभी शूद्र थे, और उनके हाथ का पकाया और परोसा भोजन ऋषि, मुनि, महात्मा, राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सभी बिना सोच विचार किये करते थे। भीमसेन ने राक्षसियों से विवाह किया था। श्रीकृष्ण ने स्वयं विदुर के घर साधारण भोजन किया था।

वेद में भी भोजन सम्बन्धी भेद भाव को नहीं माना गया है। अथर्ववेद ३। ३०। ६ में लिखा है-

'समानी प्रया सहवोन्न भागः' अर्थात्—सब एक स्थान पर खाओ पीओ।

अश्याम वाज गन्ध्यं सनेम वाजयस्त्यम्। (अथर्व० ९।९१।१२)

अर्थात्-हम सब मिल कर एक साथ भोजन करें।

आपस्तम्भ सूत्र में लिखा है कि-

'सर्वे वर्णानां स्वधर्मे ऋत्मानानां भोक्तव्यम्।

सब वर्ण वालोंको जो स्वधर्म पालन करते हों परस्पर भोजन करना चाहिए।

---

(११)

सम-सहयोग उत्पन्न करो।

गत २५ वर्षों से योरोप में जो साम्यवाद की आंधी उठी है, उसने भारतीय समाज शृंखला पर भी काफ़ी प्रभाव डाला है। मैं साम्यवाद को असम्भव योजना समझता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे देश में यह ज़हर लोगों के मस्तिष्क में न पैदा होने पावे। पहिली बात तो यह है कि शिक्षा,संस्कार,परिस्थिति और अभ्यास के कारण कभी भी मनुष्य-समाज में वह दिन न आयगा जबकि सब मनुष्य एक ही ढंग पर एक ही स्थिति में रहेंगे, एकसे मकानों में रहेंगे, एकसा भोजन करेंगे। वैज्ञानिक नियम भी यह चाहते हैं कि जो लोग शारीरिक परिश्रम करेंगे उनका रहन-सहन, खान, पान, आमद-खर्च कदापि उन व्यक्तियों के बराबर नहीं होसकता जो मस्तिष्क से काम लेंगे। फिर शरीर एवं मस्तिष्क दोनों से काम लेने वालों की श्रेणियां भी पृथक् ही रहेंगी। यह असम्भव है कि मनुष्यों के मस्तिष्क के विकास को रोक दिया जाय, मनुष्य का मनुष्यत्व ही उसके मस्तिष्क का चरम विकास है, मस्तिष्क के विकास के आधार पर ही वह नवीन आविष्कार करेगा, विज्ञान, साहित्य कला, और नीति में उत्कर्ष प्राप्त करेगा। पृथ्वी के आरम्भ से अब तक उन्हीं लोगों ने जगत को सुन्दर बनाया है जिन्होंने अपने प्रखर मस्तिष्क के द्वारा प्रकृति का अध्ययन

किया और उसका भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ उठाया है। मैं समझता हूँ संसार को अन्ततक ऐसे मेधावी मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती रहेगी। इसके विरुद्ध शारीरिक शक्ति सम्पन्न पुरुष भी समाज को सदैव ही चाहिये। जिस प्रकार का और जितना भोजन एक किसान को या सिपाही को या कारीगर को दरकार है—उतना एक कवि, चिकित्सक या वैज्ञानिक को नहीं। मैं इस बात को मानने से इन्कार करता हूँ कि देश को किसानों की अपेक्षा कवियोंकी ज्यादा जरूरत है या वैज्ञानिकों की अपेक्षा योद्धाओं की ज्यादा जरूरत है। अवैज्ञानिक योद्धा पत्थर या लोहे के भद्दे हथियारों से लड़ते थे, वैज्ञानिक सहायता प्राप्त योद्धा आज चमत्कारिक शस्त्रोंका प्रयोग करता है। विज्ञान की सहायता-हीन भारतीय कृषक पुराने हल बैलों से करोड़ों बीघे धरती के स्वामी होने पर भी निर्धन हैं, वैज्ञानिकों की सहायता प्राप्त योरोप के कृषक उनसे दशांश काम करके सौगुना धन प्राप्त करते हैं।

चाहे भी जो हो, मस्तिष्क मानवीय चिन्ह है और मनुष्य जाति इसी के आधार पर सुखी और सम्पन्न हो सकती है। और यह अनिवार्य है कि प्रत्येक मनुष्यके मस्तिष्क का विकास नहीं हो सकता। प्रतिभा और ओज सब मनुष्यों के समान न रहेगा—फलतःसब मनुष्य समान नहीं रह सकते। यदि क़ानून या समाज की मर्यादा उन्हें समान बनाने की कोशिश करेगी तो निस्सन्देह वह दुःख के घनघोर बादल सिर पर लेगी।

इस प्रकार के विचारों को समाज में उत्पन्न करने की जिम्मेदारी रूस के बोलशेविक लोगों को है। इससे प्रथम भी इस

प्रकार के भाव योरोप के देशों में गत ५० वर्षों से पनपते रहे हैं। परन्तु इस समय तो रूस ही सारे संसार में समानता पैदा करने पर तुला हुआ है। अभी उसके उद्योगों का आरम्भ है वह शताब्दियों से सत्ता के अत्याचार से दबता आया है और उसका क्रोध अभी तक ठण्डा नहीं हुआ है। शताब्दियों के दलन ने वहां महापुरुष पैदा किये हैं और उन्होंने लहू को पसीना बहाकर ऐसे उद्योग प्रारम्भ किये हैं, जिन्हें देख पृथ्वी भर की महा जातियां चकित हो रही हैं। परन्तु रूस की यह व्यवस्था मुझे अत्यन्त अस्वाभाविक और भयानक-सी प्रतीत होती है, यद्यपि वह इस समय सुन्दर और आदर्श प्रतीत होती है।

समाज एक वाद्य-यन्त्रके समान सुगठित वस्तु है। जिस प्रकार बाजे में ऊँचे और नीचे स्वर एक विशेष क्रम से और पद्धति से लगे होते हैं उसी प्रकार मनुष्य समाज में भी सब श्रेणी और स्वभाव के मनुष्यों को क्रम और पद्धति में संयुक्त होना चाहिये। यही तो समान संगठन है। यदि बाजे में सब स्वर एक ही जैसे हों या उन में क्रम न हों तो यह असम्भव है कि उस में राग रागनियाँ बजाई जा सकें।

साम्यवाद का प्रभाव न केवल भिन्न-भिन्न स्वभाव, शिक्षा और परिस्थिति के पुरुषों ही पर है—प्रत्युत, स्त्री और पुरुषों पर भी है। स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति सब सामाजिक-कार्यों में समान अधिकार रक्खें—मैं यह बात मानने से इन्कार करता हूँ। स्त्रियों की बनावट और उनका उपयोग प्राकृत-तरीके से ऐसा है कि वे पुरुषसे बिलकुल ही भिन्न किसी दूसरे-ही उद्देश्यकी पूर्ति

के लिये बनाई गई हैं। यदि इस प्रकृति के नियम का पालन न करके स्त्रियों को पुरुषोचित जीवन धारण करने के लिये प्रोत्साहित किया गया, तो स्त्रीत्व की ऐसी हानि होगी कि जिसके लिये मनुष्य-जाति चिरकाल तक अफ़सोस करेगी। स्त्रियों के सम्बन्ध में मैंने पृथक् अध्याय में बहुत कुछ विस्तार से लिखा है। मैं चाहता हूँ कि पाठक उस अध्याय को ध्यान से पढ़ें। मैं स्त्रियों को पुरुषों की दासी बनाने, पर्दे में रखने, मूर्ख रखने और घरेलू-धन्धों की मशीन बनाने के पक्ष में नहीं, मैं केवल उनका स्त्रीत्व क़ायम रखने के पक्ष में हूं। यदि स्त्रियां पढ़-लिखकर पुरुषों की भांति दफ्तरों में क्लर्क का काम करें, पुलिस और सेना में नौकरी करें, अफ़सरों के अत्याचार और अपमान का एकाकी मुक़ाबला करें, दीवानी और फौजदारी मामलों की जोखिम को सहन करें, तो निस्सन्देह वे किसी ग़ैरतमन्द पुत्र की मातायें या पति की पत्नियां नहीं रह सकतीं। और यदि वे यह नौकरियां करेंगी—आजीविका के मार्ग पर स्वतन्त्र होकर चलेंगी, तो यह अनिवार्य है कि उन पर पति, पुत्र और परिवार की अपेक्षा उनके अफ़सरों और अधिकारियों का अधिक प्रभुत्व होगा और ऐसा प्रतिबन्ध मनुष्यों के गृहस्थ-जीवन में आग लगा देगा।

क्या आप इस बात को सहन कर सकते हैं कि आपकी धर्मपत्नी को कोई पुरुष डांट-डपट करे? क्या यह सुखकर विषय हो सकता है कि आपकी पत्नी किसी फौजदारी या दीवानी मामले में अभियुक्त हो जाय? जैसा कि इस नवीन जीवन की परिपाटी में बहुत सम्भव है।

इस सम्बन्ध में एक बड़ी भारी विचारणीय बात यह है कि योरोप और भारत के सामाजिक जीवन में बड़ा भारी अन्तर रहा है, और साम्यवाद के मूल कारण योरोप की जनता के हृदय में उत्पन्न हुए—उनसे भारत का बहुत ही दूर का सम्बन्ध है।

सब से पहिले अमीरों और ग़रीबों की बात लीजिये। योरोप में प्रत्येक रईस की पदवी और सम्पत्ति स्थायी है, वह बड़े पुत्र को मिलती है। और इस प्रकार उसी एक ख़ानदान में वह पीढ़ियों तक चली जाती है। परन्तु भारतवर्ष में यह बात नहीं है यहाँ यदि एक पिता एक करोड़ रुपये छोड़कर मरा और उसके ४ पुत्र हुए, तो वह धन बराबर-बराबर सब में बंटकर २५–२५ लाख रह जाता है। उनमें से प्रत्येक के ४–४ पुत्र हुए, तो दूसरी ही पीढ़ी में वह ६ लाख होकर तीसरी पीढ़ी में साधारण सम्पत्ति रह जाती है। यह भी तब, जब कि उत्तराधिकारी सुयोग्य हुए। अयोग्य होने पर वे तत्काल ही उसे नष्ट कर सकते हैं। पदवी भारत में किसी भी रईस को वंशगत प्रायः नहीं मिलती। इन सब कारणों से कोई भी परिवार चिरकाल तक धनी बहुत कम रहने पाता इसके सिवा एक बड़ी ज़बर्दस्त बात और है कि भारत में बिरादरी के बन्धन बड़े अद्भुत और मज़बूत हैं। बिरादरी की ज़ाज़िम पर राजा, रईस और रङ्क एक समान हैं। कोई व्यक्ति चाहे भी जैसा धनी-मानी हो, उसे बिरादरी के दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति के सामने अत्यन्त विनम्र और समानता का भाव प्रदर्शित करना पड़ता है। बिरादरी ही में उसे रोटी-बेटी का भी व्यवहार करना पड़ता है। इन सबके ऊपर एक तीसरी बात यह

है कि भारत में सदैव-ही ऐसा रहा है कि ग़रीबों और अमीरों के रहन-सहन में अधिक भेद नहीं रहने पाया। लखपति लोग लाखों के स्वामी होने पर भी साधारण कुर्ते, धोती और देशी जूतों से जीवन गुजार देते थे। स्त्रियां सब काम अपने हाथों से करती थीं। उनका रहन-सहन भी बिलकुल सादा सर्व-साधारण के समान ही रहता था। भाषा, शिक्षा, भेष, और रहन-सहन सब प्रायः समान-ही रहता था।

राजा और प्रजा में भी ऐसी ही बात थी। राजा लोग अपने सर्दारों का एक अंग थे। वे परस्पर सहानुभूति और विश्वास से गुंथे रहते थे। उनका जीवन परस्पर में सहयुक्त रहता था। साथ मरते और साथ ही जीते थे। विपत्ति में राजा सर्व प्रथम अपनी आहुति देता था। राज परिवार बड़ी से बड़ी जोखिम प्रजावर्ग के लिये सहता था। वह केवल राजा न था, न वह प्रजा था, प्रत्युत वह एक जाति थी और राजा उसका रक्षक नेता और बलिदान का प्रकृत अधिकारी था।

इन सब कारणों से भारतवर्ष की अंतरात्मा में अमीरों और ग़रीबों के बीच कभी भी वह कटुभाव नहीं पैदा हुआ जो आज योरोप में होरहा है। आज यद्यपि राजा लोग अत्यन्त पतित हो गये हैं और अमीरों के जीवन विलासपूर्ण और शानदार होगये हैं तथा उनमें से सहयोग और सहानुभूतिके भाव दूर हो गये हैं, फिर भी भारत के सर्वसाधारण के मनमें उन के प्रति विद्रोह नहीं। यह विद्रोह सिर्फ़ उन गिने हुए शिक्षित युवकोंके हृदयोंमें है जो विदेशमें रह आये हैं या जिन्होंने विदेशोंका ऐसा क्रान्तिकारी साहित्य पढ़ा है।

यद्यपि यह सच है कि राजाओं और रईसों में अब वह बात उत्पन्न करना बहुत कठिन बल्कि असम्भव हो गई है जो पहिले थी। उन के रहन-सहन भड़कीले हो गये हैं। उनकी आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं। बड़े-बड़े व्यापारी मोटरें रखते हैं, मोटर विना उनका यातायात नहीं चल सकता, उन्हों ने विदेशों में भारी-भारी सत-खण्डे महल बनाये हैं जो अनगिनत ऐश्वर्य भण्डार है। समय ने उनके कार्य को सरल और आरामदेह बनादिया। अब उन्हें अपने माल को बेचने के लिये चोर डाकुओं से परिपूर्ण मार्ग पर हजारों मील की यात्रा नहीं करनी पड़ती, न लम्बे-लम्बे जहाजी सफ़रों की जोखिम ही उठानी पड़ती है, अब तो वे चुप-चाप गद्दे पर पड़े-पड़े टेलीफ़ोन मुँह पर लगाये सारी पृथिवी भर में व्यापार कर सकते हैं। और सन्सार के क्षण-क्षण का समाचार उन्हें मिल सकता है। साथ ही अटूट सम्पत्ति के वे अधिकारी भी बन सकते हैं। फिर उनका जीवन सुखी और विलासमय बनना स्वाभाविक ही है। यही हाल राजा लोगों का भी है, उनके व्यक्तिगत अधिकार और उत्तरदायित्व जो उन्हें जन साधारण से श्रेष्ठ बनाते आये हैं, राजनीति ने छीन लिये हैं और अब सिवा इसके कि अपनी पैतृक सम्पत्ति और ख़िताब के अधिकारी और भोक्ता हैं उन्हें कुछ भी करना नहीं है, न उनके सामने कोई काम है न आदर्श। फल स्वरूप वे अनेकों दोषों से परिपूर्ण और सद्गुणोंसे रहित होते चले जारहे हैं।

यही सब कारण हैं जिनसे अमीरों और ग़रीबों, राजाओं और प्रजाओंमें असहनशीलता उत्पन्न होती चली जारही है। यह

तो निश्चय है कि हम न तो सब राजाओं और सत्ताधारियों को एकदम नष्ट कर सकते हैं और न धनियों को ही। और यदि एक बार समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करके ऐसा कर भी दें तो कुछ दिन बाद वे फिर विषम हो जावेंगे। यह विषमता स्वाभाविक है। इसलिये हमें इस बात पर अच्छी तरह सोच लेना चाहिये कि साम्यवाद का सिद्धान्त मानव-जाति के लिये सर्वथा ही अस्वाभाविक और असम्भव है।

तब? यदि साम्यवाद न उत्पन्न हो तो ग़रीब लोग इसी भांति हृदय हीन अमीरों के पैरों में पड़े कुचले जाते रहेंगे? प्रजा, राजाओं द्वारा इसी भांति पीड़ित होती रहेगी? राजागण इसी भांति से व्यापारी और चरित्रहीन तथा अयोग्य बने रहेंगे? चतुर लोग इसी भांति मूर्खों के अज्ञान से लाभ उठाते रहेंगे? नहीं यह कभी न होगा। इन सब को रोकने और सुव्यवस्थित बनाने का एक ही स्वाभाविक और सम्भव उपाय है। वह है सम-सहयोग।

अपनी-अपनी प्रकृति; परिस्थिति, शिक्षा और व्यक्तिगत विकास के आधार पर जिस व्यक्ति में जैसी योग्यता हो, वह उस का ठीक-ठीक उपयोग करे, शक्ति संचय करे, व्यक्तित्व को निर्माण करे। फिर वह सब परिस्थिति और सब श्रेणी के लोगों से मिलकर समाज के बन्धन में अपने को बांधे, प्रत्येक का एक दूसरे के प्रति जो कर्तव्य हो उसका पालन करे। यदि वह राजा है तो वह राज महल में रहे, उसे बहुत अधिक काम करना पड़ता है—वह सभी साधन जुटावे, परन्तु सामाजिक बन्धन के नाते वह प्रजा का सहयोग करे, प्रजा के लिये उसका राजत्व और जीवन उत्सर्ग हो।

हाल ही में किसी विद्वान ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि—"अमेरिका के प्रेसीडेण्टगण ज्यों ही अपना कार्य काल पूरा करते हैं कि मर जाते हैं। इस का कारण यह है कि उन्हें बहुत अधिक कार्य करना पड़ता है, राजा का दायित्व भी साधारण नहीं, और यदि वह प्रजा के प्रति अपना कर्तव्य समझे तो उसके संकटों का पारावार नहीं। इसी प्रकार अन्य धनी विद्वान् और वैज्ञानिकों के विषय में भी कहा जा सकता है। यदि एक ऐसे पुरुष को जिसे हज़ारों मील में फैली हुई जनता पर शासन करना है या निरन्तर जल्द से जल्द एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना है, ऐसी दशा में यदि वह हवाई जहाज़ या मोटरकार में जाता है तो फावड़े चलाने वाले के मन में इस बात का डाह न पैदा होना चाहिये कि हम भी ज़मीन खोदने के लिये मोटर ही में जायेंगे। समाज हमारा एक विराट शरीर है, शरीर के प्रत्येक अंग जुदा-जुदा अपनी हस्ती रखते हैं। उनके काम आकृति और स्थिति भी जुदा जुदा हैं। सुगठित शरीर तो वह है जिस के प्रत्येक अंग पूर्ण विकास को प्राप्त और निरोग हैं और अपनी व्यक्तिगत सत्ता को इतना परिपूर्ण बनाये हैं कि वह ठीक-ठीक शरीर को नीरोग बनाए रखने में अपना पूर्ण उपयोग कर सकता है।

हमें अपने समाज के सामूहिक सम्बन्ध उसी नियम पर बनाने चाहिए जिन पर कि हमारा छोटा-सा गृहस्थ चल रहा है। हमारे गृहस्थ में हमारे पिता हैं, दादा हैं, भाई हैं, उनकी पत्नियां हैं, अपनी भी पत्नी है, सबके बच्चे हैं, नौकर हैं, पशु हैं, उपजीवी हैं, महमान हैं, इन सबकी परिस्थिति भिन्न २ है। सबके कार्य अधिकार

और मर्यादा भी भिन्न भिन्न हैं, पर सब सद्युक्त हैं। पिता, जो घरका सर्व श्रेष्ठ पुरुष है, बच्चे को छाती पर रख कर खिलाता है उसके मलमूत्र उठाता है, गृहिणी परिवार की सेवा में व्यस्त है, इस समस्त संगठन में अधिकार की चर्चा नहीं है—प्रेम और कर्तव्य की है। प्रेम और कर्तव्य के आधार पर ही हमें अपने समाज के अमीर, ग़रीब, मूर्ख और विद्वानों का संगठन करके प्रत्येक से काम लेना है। जिस घर में अधिकार या हक़ की चर्चा चली, वह नष्ट होगया, वहां कलह का बीज बो दिया गया। आज आप ऐसा क़ानून बना दें कि आज से कोई शिक्षित न हो, शिक्षा के समस्त केन्द्रों को भी नष्ट कर दें—आधी शताब्दि में ही सारा देश मूर्ख हो जायगा। परन्तु आप चाहे भी जितना उद्योग शिक्षा प्रचार का क्यों न करें, कुछ लोग मूर्ख रह ही जावेंगे। शेष जो शिक्षित होंगे, उन की भी अनेक श्रेणियां होंगी। फिर उनकी रुचि है। वे भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिभा के कारण कोई कवि, कोई वैज्ञानिक, कोई शिक्षक और कोई कुछ बनेगा, और उनका रहन-सहन भी उनके व्यवसाय और रुचि के अनुकूल ही होगा। ऐसी दशा में साम्यवाद पर जोर डालना मेधावी लोगों को नष्ट करना है। आप मानव समाज को यदि साम्यवाद पर चलने को विवश करेंगे तो वे अपने विकास से पतित होकर प्राणियों की अधम श्रेणी के अन्दर जा पहुँचेंगे, क्योंकि सब लोग असाधारण विकास नहीं प्राप्त कर सकते, सब लोग जड़ अलबत्ता हो सकते हैं। आप स्त्रियों को पुरुषों की भांति युद्ध करना सिखा कर सेना में या पुलिस में भर्ती कीजिये, या उन्हें क्लर्की की तालीम

देकर क्लर्क बनाइये। फिर वे आपकी हृदय की कोमल भावना की पोषक न रहेंगी। क्या साम्यवाद में स्त्रियाँ यह भी कह सकती हैं कि पुरुष भी उन्हीं की भांति बच्चे जनें? उन्हें पालें पोसें? यह तो स्त्रियों के शरीर की रचना से सम्बन्ध रखने वाली बात है, फिर जब स्त्रियां पुरुषोचित जीवन व्यतीत करेंगी, तो जो कार्य ख़ास तौर पर स्त्रियों के ही करने के हैं उन्हें कौन करेगा।

सम सहयोग ही मनुष्य जाति के लिये उत्तम संगठन है, माता बच्चे के लिये सब कुछ त्यागती है, पिता पुत्र के लिये सब कुछ त्यागता है, प्रेम और कर्तव्य की खरी कसौटी तो यही है कि प्रत्येक प्रत्येक के लिये अधिक से अधिक त्याग करे, अधिक से अधिक विश्वास करे, और अधिक से अधिक अपना समझे, और अपने में और उसमें तनिक भी भेद-भाव न रक्खे। मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि यही मानव जातिके लिये कल्याण का विषय हो सकता है।

इसी प्रसंग में मैं आपका ध्यान मनुष्य जाति की एक बहुत मोटी भूल की ओर आकर्षित करता हूँ। यह एक बहुत पुराना और साधारण ख्याल है कि मूर्ख की अपेक्षा विद्वान् और शिक्षित अधिक श्रेष्ठ हैं। इस श्रेष्ठता की भावना ने पढ़े लिखे लोगों के मन में ऐसे नीच और घमण्ड से परिपूर्ण विचार उत्पन्न करदिये हैं कि जब तक वे दूर न कर दिये जायँगे मनुष्य जाति का संगठन न हो सकेगा।

मैं बहुत काल से इस बात का अनुभव करता आया हूँ कि कि हज़ारों मूर्ख स्त्रिया बड़े से बड़े विद्वान् जज, बैरिस्टर, वकील

और बड़े-बड़े विद्वानों की पत्नियां हैं। वे उनके बच्चों की माता, उनके घरों की देवियां और उनकी यथार्थ नाम पत्नियां प्रमाणित हुई हैं। मैं यह भी कह सकता हूं कि वे शिक्षिता स्त्रियों की अपेक्षा आप की सुयोग्य पत्नियां कही जा सकती हैं।

मैं पूछता हूं, प्रेम करने के लिये, सेवा करने के लिये, त्याग करने के लिये, सच्चाई से और ईमानदारी से एक दूसरे के प्रति विश्वासी बने रहने के लिये क्या विद्याकी या शिक्षा की आवश्यकता है? क्या यह सत्य नहीं कि पढ़े लिखे पुरुष जितने घमण्डी, झगड़ालू और पापमग्न होते हैं उतने बेपढ़े लोग नहीं?

कल्पना कीजिये, आप की धर्मपत्नी एक अक्षर भी नहीं पढ़ी। वह सदैव ही आप के लिये व्याकुल रहती है। वह आप के प्रत्येक स्वभाव को, आकांक्षा को, मनोवृत्ति को ठीक-ठीक समझती है। वह जानती है कि आप कब क्या भोजन पसन्द करते हैं, आपके सोने और आराम करने के समय क्या हैं। वह सदैव ही आपको वे सुविधाएँ देती है। वह आपकी मानसिक वेदनाओं को समझ जाती है, वह चुपचाप आपके लिये बड़े से बड़ा त्याग कर देती है—यहां तक कि प्राणों तक का भी! मैं आप से पूछता हूं अब भी आप उसे शिक्षिता करने की आवश्यकता अनुभव करेंगे? दो शिक्षित व्यक्ति परस्पर बैठकर थोथी बकवाद कर सकते हैं। हाँ यह बात सत्य है कि विद्वान् अपनी प्रखर-प्रतिभासे संसार का बहुत कुछ भला कर सकता है, वह विज्ञान के बल से रेल, तार बना सकता है, बिजली को करामात दिखा सकता है, परन्तु अपढ़ व्यक्ति इनके सामने नगण्य है यह नहीं स्वीकार किया जा सकता।

देहातों में हम देखते हैं कि वहां के नंगे, बदसूरत, जंगली जैसे मनुष्यों के हृदयों में भी मानवीय उच्च भावनायें हैं। वे शिक्षित समाज की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चे पति-पत्नी, स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, मित्र आदि हैं। हम अपनी मूर्खा माता का तिरस्कार नहीं करते, स्त्री का नहीं करते, पिता का नहीं करते, प्रत्युत ऐसे अवसरों पर विनोद किया करते हैं। वही भाव हम प्रत्येक आदमी से क्यों न रक्खें ? अध्यापक अपने शिष्य के सन्मुख गर्व त्याग कर प्रेम पूर्वक उसे ज्ञान देता है। यदि विद्वान् पुरुषोंका ऐसा ही भाव अपढ़ जनता से हो जाय तो वे दोनों परस्पर की बहुत कुछ सहायता दे सकते हैं।

सारांश यह है कि हम चाहते हैं कि भारत के नीच-ऊँच, दरिद्र अमीर, मूर्ख और विद्वान् परस्पर सम सहयोग करें। किसी का तिरस्कार न करें। किसी को तुच्छ न समझें, द्वेष के सोये हुए भाव को न जाग्रत होने दें।

समस्त भारतवर्ष में एक महात्मा गान्धी ही इस जीवन को व्यतीत कर रहे हैं। उन्होंने अपने शरीर को दरिद्रों और अछूतों का जैसा बना रक्खा है और आत्मा को पृथिवी भर के विद्या-दिग्गजोंसे भी उच्च। और यही कारण है कि वह इस असहायावस्था में भी जगत की शक्तियों को आश्चर्यचकित कर सके हैं।

(१२)

आत्मविश्वास हृदय में उत्पन्न करो।

जो अँग्रेज जाति तुच्छ वंश और क्षुद्र प्रदेश में जन्म लेकर भी आज अपनी मुठमर्दी के बल से समस्त पृथिवी के पञ्चमांश को बेधड़क भोग रही है; जिसने पिछले चार सौ वर्षों से समस्त योरोप और एशिया की नाक में दम कर रक्खा है; जिस ने योरोप के भारी से भारी वीर से लोहा बजा कर उस पर विजय पाई; जिसकी अकांक्षाओं के मारे आज पृथिवी पर किसी को सुख की नींद नसीब नहीं होती; जिस ने जर्मनी की चालीस वर्ष की सामरिक तैयारियों और क़ैसर की जगत को थर्रा देने वाली सत्ता को परास्त करके अपनी मूछों को आस्मान तक ऊंचा कर लिया है; जिसके सिर्फ १२०० आदमी ३० करोड़ नर-नारियों से भरे हुए विशाल भारत को उंगली पर मदारी के बन्दर की तरह सफलता पूर्वक नचा रहे हैं; जो सारी पृथिवी के राज मुकुटों को ध्वंस होते देख कर अभी तक जरा भी विचलित नहीं हुई और अचल भाव से अपना अकेला साम्राज्य लिये खड़ी है, कुछ दिन पूर्व एकाएक एक आदमी ने उसी अँग्रेजों की जाति को पृथिवी भर में गूँज उठने वाली आवाज में "शैतान" कह कर पुकारा था!

भारत के वातावरण में यह आवाज कंपकंपी पैदा करने वाली थी। तब तक अंग्रेजों के समस्त अत्याचारों के सहने पर

भारत के करोड़ों नर-नारी, क्षमा, कृपा, अनुग्रह और दया की ही प्रार्थना किया करते थे। उस भिक्षावृत्ति के समय में, यदि किसी की विनय में राई-रत्ती भर भी कसर रह जाती तो उसकी खैर न थी। ऐसे कितने ही लोग फांसी की रस्सी से गला घोट कर मार डाले गये थे। कितने ही काले पानी के कोल्हुओं में वैल वन कर जी रहे थे। कितने ही अपने वाल-बच्चों से भरपूर घरों से चार क़दम के फ़ासले पर मनहूस दीवारों के भीतर व्यर्थ चक्की पीस रहे थे। कितनों ही की छातियों में गोलियां पार हुई थीं; कितनों ही के जुर्माने का जूता मारा गया और कितनों ही के गर्म खून में ठंडे छर्रे कसक रहे थे।

ऐसी स्थिति में लोगों की कँपकँपी अनुचित नहीं थी। जिस आदमी ने यह शब्द कहा था, वह एक वहुत ही दुवला पतला आदमी था। सूखी हड्डियों पर सिर्फ़ चमड़ी का लेप था। न सिर पर टोपी, न पैर में जूता। उसकी कमर में केवल मोटे खद्दर का एक टुकड़ा था और उसके हाथ में शस्त्र की जगह चार अंगुलकी एक पैंसिल थी।

सात्विक क्रोध के आवेश में उसने अँग्रेजों को जो गाली दी थी उसी पैन्सिल के टुकड़े से उसने उस गाली को तत्काल क़लमबन्द करके अमिट कर दिया।

उसने यह गाली किसी को चिड़ाने या उत्तेजित करने के लिये नहीं दी थी। इसीलिये उसने उसके फलाफल की भी विशेष चिन्ता न की और जब सारा भारत भयभीत होकर अँग्रेजों की भृकुटी विलास की ओर तक रहा था तव उस आदमी ने आगे के लये

अपना इरादा भी कह दिया। वह बैठा था। खड़ा होगया। खड़े होकर उसने कहा:—"मैं इस शैतान सल्तनत का नाश करूँगा।"

हिन्दुस्थान भर में हल्ला मच गया। कुछ मुँह लगे भिखारियों ने कहा, 'पागल है।' किसी बुद्धिमान ने कहा, 'मूर्ख है।' तीस करोड़ प्रजा ने सन्देह से उसकी ओर देखा। अँग्रेजों ने कहा—वाह! अच्छी हिम्मत है। कम क़ूवत, गुस्सा ज्यादा इसे ही कहते हैं! वह ठठा कर हँस पड़े। उन्होंने उस की तरफ़ से मुँह फेर लिया।

खड़े होकर उसने अपने इस इरादे को काममें लाने का बन्दोबस्त किया। डरते डरते लोग उसके सामने गये। किसी ने हाथ पकड़ कर रोका; किसी ने समझा कर। सैकड़ों-हजारों-लाखों-करोड़ों अविश्वास पूर्ण, हताश दृष्टियों की चमक उस पर पड़ी। लेकिन उसने ऊँची आवाज़ में पुकारा और कहा:—

"अगर किसी की इच्छा होवे तो मेरे पीछे आवे। वरना मैं अकेला ही इस महान् कार्य को करूँगा।"

इस पुकारमें जादू था। हजारों लोगों की खुदाई न जाने कहां चली गई। पहले एक-एक, दो-दो और चार-चार करके—फिर दस-दस और सौ-सौ करके—लोग आकर और उसके कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़े होगये। उनमें हिन्दू थे, मुसलमान थे और ईसाई थे। जवान भी थे—बूढ़े भी थे, और बालक भी। स्त्रियां भी उसके साथ थीं। देश की माताएं, बहुएं, बेटियां सभी थीं। उनमें से कुछ राजाओं के ऐश्वर्य को लज्जित करने वाले धनकुबेर भी थे। कुछ संसार के प्रकाण्डधारा-शास्त्रियों के मुखिया थे। कुछ पृथ्वी

के श्रेष्ठ राजनैतिक पण्डित थे। कुछ धर्म के नाम पर कुर्बान होने वाले ऐसे सच्चे वीर थे कि जिनकी हुंकार के साथ सात-करोड़ तलवारें चाहे जब नङ्गी हो सकती थीं। कुछ अपनी आयु का तृतीयांश व्यतीत किये हुए धवल-केश-धारी महज्जन थे।

सबने एक-स्वर से कहा—"चलो, हम तुम्हारे साथ हैं!"

उसने आकस्मिक स्वर में कहा—"देखना, मारना मत। मरनेका अवसर ढूँढ़ना।" अबोध बालक की तरह सबने उसकी यह बात स्वीकार करली। प्रकाण्ड-धारा-शास्त्रियों का कानूनी ज्ञान, जबर्दस्त राजनीतिज्ञों का महान् पाण्डित्य, बिलकुल बाधक न हुआ। इसके बाद उसने क्षण-भर धनवानों की ओर देखा। देखते-ही-देखते करोड़ों रुपयों का मेंह बरस गया।

अँग्रेज अभी तक हँस रहे थे। लेकिन उसका करतब देखकर उनका आसन हिल गया। प्रहार आरम्भ हुआ। सैकड़ों वर्ष की सल्तनत दिनों में हिल उठी। भारत से लण्डन तक के समुद्र क्षुब्ध हो गये। मैन्चेस्टर और लंकाशायर के मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं। लण्डन के होश उड़ गये—अंग्रेजों की मति मारी गयी। उन्होंने अपने समस्त क़ानून, गोली, गोले, हवाई जहाज, फ़ौज लेकर उस चार अँगुल की पैन्सिल पर धावा बोल दिया।

लोगों की आँखें खुलीं। उन्होंने देखा - जिसकी आंखों के इशारे से हजारों सिर धड़ से जुदा हो सकते हैं, जिसके एक शब्द से ही रक्त की धाराएं बह सकती हैं, उसे इस व्यक्ति ने इतना छकाया, इतना घबराया कि उसके नाम और उसकी गन्ध से आज उनकी नींद हराम होगई।

इसके बाद—कराची की कांग्रेस में जो कुछ था, वह सभी अद्भुत था। वैसा ही नंगा वह आदमी खड़ा था। उस जीती-जागती धवलपुरी में देखने वालों ने जो देखा, वह ११ वीं शताब्दी के बाद इन सात-सौ वर्षों में किसी को भी देखना नहीं मिला था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के, भिन्न भिन्न भाषा-भाषी, भिन्न-भिन्न जाति और धर्म के लोग एक ही जाति का वस्त्र पहने हुए थे। एक ही भाषा बोल रहे थे और एक ही ढङ्ग से रह रहे थे। सबके इरादे भी एक ही थे। सब का एक मनसूबा और एक-ही ध्येय था। उन मनसूबों में ही, उस ध्येय में ही सब का सर्वस्व बलिदान-सा हो रहा था। क्या यह अपूर्व न था? मराठे, जब उत्तर भारत को लूटने गए थे—तब यदि उनके मन में यह भाव होते? मीरज़ाफर जब क्लाइव का गधा बना था तब हिन्दू-मुसलमानों में यह भाव होते? दिल्ली का जब पतन हुआ था, तब हिन्दुस्थानियों में यह भाव होते? तो क्या भारत के इतिहास में आज हर साल करोड़ों आदमियों को भूखों मरने के हवाले देखने को मिलते? तो क्या आज भारत के मर्द और भारत की औरतें फ़िजी में कुली बनकर अपनी पत खोते?

गङ्गा की तरङ्ग के समान श्वेताम्बर-धारी स्त्री-पुरुषों के आवागमन के प्रवाह को देख कर वह नंगा आदमी लालटेन के एक खम्भे की आड़ में खड़ा हँस रहा था। सामने हिमालय के समान शुभ्र पण्डाल था।

ऐसी भयङ्कर जाति से युद्ध छेड़कर, ऐसे कठिन मार्ग में, इतना आगे बढ़कर, इतने बड़े-बड़े नर-रत्नों को, लाखों नर-

नारियों के साथ ऐसे जोखिम पूर्ण कार्य में प्रवृत होने की भारी जिम्मेवारी सिर पर रख कर भी वह हँसता था। चिन्ता और क्षोभ की छाया उसे छू तक नहीं गयी थी।

श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण की तरह वह अदालत में दण्ड पाने को जा बैठा। दण्ड की विभीषिका से सर्वथा अज्ञान बालक की तरह उसने कौतूहल से कहा—"हां, मैं अपराधी हूँ। बोलो, क्या दण्ड दोगे?" सरकारी वकील ने पूरी वाग्मिता से उसे अपराधी सिद्ध करके जज से कहा—"इसे अधिक-से-अधिक सज़ा मिलनी चाहिये।" उसे जब कारावास दिया गया, तब उस ने सरकारी वकील से मुस्कुराकर कहा—"अब तो खुश हुए।" उसी दिन उस क़ानूनी विद्वान् ने पद-त्याग कर दिया। और, दण्डाज्ञा सुनाती बार जज के हृदय में उन भावनाओं का उदय हुआ, जो मातृ-वध करते समय परशुराम के मन में उदय हुई थीं।

क्यों? सारे संसार से दश वर्ष बाद मैं यह प्रश्न करूंगा। अनात्मवादी और नैतिक जीवन से पतित संसार को मैं बीसवीं शताब्दी की इस अद्भुत घटना का अध्ययन करने के लिए १० वर्ष का अवकाश देता हूँ—किन्तु भारत से, आज—इसी समय—मैं यह प्रश्न करता हूँ। उस नग्न, दुर्बल मनुष्य के सामने महा-महिमान्वित शक्ति का इतना लाघव क्यों? चार अंगुल की पैन्सिल के बल पर उस एकाकी व्यक्ति का इतना साहस, इतना प्रताप, इतनी निश्चिन्तता, इतनी स्फूर्ति और इतना प्रभाव क्यों? हिंसा के रक्तपात से लथपथ भू-लोक में किसने भारत को

अहिंसा के समुद्र में लीन किया? क्रान्ति के लाल झण्डे को किसने उज्ज्वल-धवल शोभा प्रदान की? तीस करोड़ भिन्न-भाषा, भिन्न वेष, भिन्न समुदाय आचार-विचार, स्वभाव वाले भारत को गुलामी के गला-घोटू वातावरण में किसने एक वेश, एक भाव और एक सूत्र में बांध दिया? जो सत्य बीसवीं शताब्दी में विजेता जातियां भी न पा सकीं, वह भारत के अयोग्य हाथों में अनायास-ही किसने दे दिया? उसी एक क्षीण-काय नंगे आदमी ने! क्या तीस-करोड़ कण्ठों का एक यही उत्तर है?

अच्छा यही सही। मैं एक प्रश्न और पूछता हूँ? उस पुरुषके व्यूह में घुसते ही भारत की तीर के वेगसे जाती हुई नाव चक्कर क्यों खाने लगी? उसकी गति क्यों रुक गई? जिस चालने भीषण कलेजों को दहला दिया था, जो सारी पृथ्वी की जातियों के देखने की वस्तु बन गयी थी, योरोप और अमेरिकाकी जातियां जिसकी चाल को देखनेके लिये अपना काम छोड़ बैठी थीं, वह चाल किस जादू के जोर से रुक गई? इसका जवाब भी आज ही लूंगा।

क्या सचमुच वही एक आदमी उस इतनी भारी नाव को अपनी फूंक से चला रहा था? जिस नाव में ऐसे तीस करोड़ नरमुण्ड भरे हुए थे जो अपना सब धन्धा छोड़ कर अपने जीवन मरण के प्रश्न को हल कर रहे थे, उस नाव पर, उन तीस करोड़ नर-मुण्डों में, क्या एक भी ऐसा नहीं था जो इस दुर्बलकाय व्यक्ति के हाथ से डांड लेकर उसे विश्राम लेने देता। उसके विश्राम की आकांक्षा मानो इतने नर समुद्र के प्रलय का प्रश्न थी? उच्च

कोटि के असंख्य राजनैतिक और सामाजिक पंडित, अनगिनत महारथी की पोशाक पहने और महारथी तिलक छत्र प्राप्त किये महज्जन इतनी भारी नौका को जिसमें अपनी समस्त पत, आबरू और जीवन भरा था, जिसमें अनेक कुल महिलायें अपनी वीरता के कारण दलित होकर क्रन्दन कर रही थीं; जिसमें अनेक वीर पत्नियां अपने पति-पुत्रों को जूझ मरने को उत्साहित करने के लिये उद्विग्न बैठी थीं, जहां वृद्ध पिता अपने पुत्रों को खोकर अंधे की तरह निराश्रय हो गये थे, जहां करोड़ों किसान, करोड़ों अछूत, करोड़ों विधवाएँ, हाय-हाय कर रहे थे—उस नाव को, इस मध्य धार में चक्कर खाती छोड़कर, इस युद्ध की आंधी में अपनी टोपी फाड़-फाड़कर, दिया जलाकर मार्ग ढूंढ़ने के लिए मूर्ख की तरह घबराये हुए इधर से उधर और उधर से इधर दौड़-धूप करते रहे। जो मुंह में आता था—कहते थे। कोई सिद्धान्त नहीं। कोई कार्य नहीं। कोई प्रबन्ध नहीं। कोई गति नहीं। कोई मार्ग नहीं।

तब क्या इन करोड़ों व्यक्तियों में वही व्यक्ति इतना शक्ति-सम्पन्न है? क्या अकेला वही उस महायज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है? भारत के करोड़ों नर-नारी बुद्धिहीन भेड़ हैं या निर्जीव मशीन! बड़ी अद्भुत बात है। प्रश्न कुछ कौतूहल-पूर्ण है। पर, अब देखता हूँ कि प्रश्न गम्भीर है। प्रश्न घबराहट का है—प्रश्न विपत्ति का है—पाठक! यदि आप गुलामी और आसरे को तकने वाले हिन्दुस्तानी हैं तो यह प्रश्न आपके दुर्भाग्य का है। यदि आप दब्बू और बोदे भारतीय हैं तो यह प्रश्न आपके लिए जीवन

और मरण का प्रश्न है। यदि आप नेता या अपने पास-पड़ोस में गण्य-मान्य हैं, तो यह प्रश्न आपके लिए लज्जा का है। यदि आप कर्मवीर, तेजस्वी और जूझ मरने वाले भारतीय हैं—तो आपके लिये यह प्रश्न कुछ सीख लेने का प्रश्न है।

भारत के प्रत्येक पुरुप के सामने मैं यह प्रश्न रखता हूँ कि एक क्षीण-काय पुरुप ने किस बल पर ऐसी खूंख्वार-शक्ति से दिल्लगी की तरह युद्ध छेड़ा और विजय पाई? और किस शक्ति के अभाव से भारत के मूर्ख और विद्वान् छोटे और बड़े किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहे हैं?

छोड़िये! तलवार, हिंसा, धन, शस्त्र, जन-बल और बाहु-बल की बात। इन बातों का मेरे प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस शक्ति के उद्गम को ढूंढ़िये जिसने महान् विजयी, दृढ़-निश्चयी, तोप, बन्दूक़, हवाई जहाज वाली, लहरों पर हुकूमत करने वाली जाति के सैकड़ों वर्ष के दृढ़ प्रताप और गौरव को एक हुँकार से हिला दिया। उस शक्ति के तथ्य को ढूंढ़िये—जिसको हृदय में ही धारण करने के कारण उस अस्थि-पंजरमय व्यक्तिके निःश्वास से अंग्रेजी-साम्राज्य बेत की तरह काँप उठता रहा है। उस शक्ति का रहस्य खोजिये, जिसने उसकी वाणी में शत्रुओं को लज्जित करने वाली, मित्रों को मुग्ध करने वाली और महापुरुपों को शिष्य बनाने वाली बिजली की सी तासीर पैदा करदी है।

पर क्या यह सम्भव है? जिस भारत के बच्चे विदेशी भाषा और विदेशी शिक्षा को सीखकर विद्वान् होते हैं; जिस भारत के भद्र पुरुप विदेशी काट के वस्त्र पहनकर सभ्य बनने की

चेष्टा करते हैं; जिस भारतके वातावरण में विदेशी उत्कृष्टता और अपनी हीनता की दुर्गन्ध भर गयी है; जो भारत की प्रत्येक संपदा पर ललचीली दृष्टि डालता है और उसे अपने पास न देखकर हाय करता है—उस भारत से क्या इस प्रश्न का उत्तर मिलना सम्भव है ? उसमें इतनी योग्यता, इतनी बुद्धि, इतनी प्रतिभा होती तो यह प्रश्न ही न उठता। यह नौका ही न अटकती।

छोड़िये इस विचार विभ्राट् को ! अपने अनुवादक मस्तक को व्यर्थ भटकाकर इस घी की मँहगाई के ज़माने में न थकाइए। सबसे पहले मैं ही आगे बढ़कर अपनी राय पेश करता हूँ। इस अध्याय के सिर पर पांच अक्षरों का जो एक छोटा-सा शब्द है, क्या वह कुछ-कुछ इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर नहीं है ?

क्या एक 'आत्म-विश्वास' के ही बल पर इस अद्भुत-पुरुष ने अलौकिक महत्व नहीं प्राप्त कर लिया ? और, क्या आज भारत की सन्तानों के हृदयों में आत्म-विश्वास की दिव्य-शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं हो गयी है ? क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी छोटे-बड़े काम को करते समय कायर की तरह अपने चारों तरफ़ नहीं देखता ? क्या आत्म-विश्वास पर काम शुरू करना, लोग नक्कू बनना नहीं समझते ?

सात-सौ वर्षों तक ज़बर्दस्तों की जूतियां खाकर और तीन-सौ वर्षों तक पराई गुलामी के आसरे अपने बाल-बच्चों को टुकड़ा जुटाकर आत्म-विश्वास की वह गति, जो सतयुग में निर्विकल्प ऋषियों की नित्य-दिनचर्य्याओं में देखी गई थी, त्रेता में वनवासी असहाय राम के चरित्र में, युद्ध से पहिले ही विभीषण को लङ्का

का राजतिलक करने में देखी गयी थी, द्वापर के अन्त में भगवान् कृष्ण के पाण्डवों का दूतत्व स्वीकार करते समय कौरव-सभा में देखी गई थी, और, इन अधम दिनों के मध्यकाल में राजपूताने के उद्भाव जीवन में देखी गई थी—मर गई, खो गई, लुट गई—उसका बीज नाश तक होगया।

पुरुष के सामाजिक-जीवन में आत्म-विश्वास सर्चलाइट का प्रकाश है। पुरुष के नैतिक-जीवन में आत्म-विश्वास रीढ़ की हड्डी है। और भीषण संग्राम के कठिन दिनों में आत्म-विश्वास उसका अमोघ-अस्त्र है; हिंसा और अहिंसा दोनों प्रकार के युद्धों में आत्म-विश्वास की जरूरत है। हिंसा के युद्ध में मनुष्य भेड़िये की तरह अपने अधिकार की रक्षा के लिए गुर्राकर खूनी-हमला करता है और अहिंसा के युद्ध में कुल-वधू के सतीत्व रक्षा के प्रयत्न की तरह मर मिटता है। दोनों में साहस चाहिये और साहस उसी में है जिसमें आत्म-विश्वास है। हिंसा के युद्ध में तो मनुष्य दूसरे बलों से भी काम लेता है, किन्तु अहिंसा के योद्धा का तो बिना आत्म-विश्वास के काम ही नहीं चल सकता। उस का सारा बल सहिष्णुता और पतन के अन्त तक निर्वैर-कट्टरता में है। पतन से ही उसकी विजय होती है। निर्वैर-सहिष्णुता का नैतिक और भौतिक प्रभाव न केवल शत्रु और दर्शकों पर पड़कर शत्रु के मनमें ग्लानि और दर्शकों के मनमें शत्रु के प्रति घृणा और उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है, वरन् वातावरण में भी एक अप्रकट भौतिक प्रभाव उत्पन्न करता है। मेरी धारणा है कि इसी भौतिक प्रभाव ने भगवान् बुद्ध को

अवतीर्ण किया था। राजनैतिक और सामाजिक विशृङ्खलताओं से पीड़ित प्रजा के इसी भौतिक प्रभाव से कृष्ण का अवतार हुआ था। योरोप और अरब की धार्मिक अन्धाधुन्ध की सत्ताओं से मर्माहत प्रजा के भौतिक प्रभाव ने मसीह और मुहम्मद को उत्पन्न किया था। और, सात-सौ वर्ष के छिन्न-भिन्न राजनैतिक जीवन के भौतिक प्रभाव ने ही उस व्यक्ति के दुर्बल तन में अडिग आत्म-विश्वास का सरोवर भर कर उसे पृथ्वी पर जन्म दिया है।

आत्म विश्वास का माहात्म्य ऐसा ही है। वह कभी दीखता नहीं, पर उसने सदा पृथिवी की बुराइयों का उन्मूलन किया है। इसी आत्मविश्वास के बल पर शङ्कर ने घोर नास्तिकता का उन्मूलन किया था। इसी आत्मविश्वास के बल पर स्वामी दयानन्द ने सारे भारत के अन्ध विश्वासों और कुरीतियों के विरुद्ध निर्भय होकर आवाज उठाई थी। इसी आत्मविश्वास के बल पर बीसवीं शताब्दी के सब से क्षीणाङ्ग और सब से वीतराग पुरुष ने इतनी बड़ी शक्ति को निर्भय होकर "शैतान" कह कर ललकारा था।

यह उसका व्यक्तित्व तो था, पर यह कार्य उसकी व्यक्ति के स्वार्थ का न था। 'शैतान सल्तनत को नाश करूँगा'—इस घोषणा में नैपोलियन और विभीषण की तृष्णा नहीं छिपी हुई थी। यह उसकी व्यक्ति का सब से बड़ा त्याग था, जो उसने तीस करोड़ दलित भारत के लिये अपने अलौकिक आत्मविश्वास पर दृढ़ हो कर किया।

पर यह याद रखना चाहिये कि महान् पुरुष कभी योद्धा नहीं

बनते हैं। वे आदर्श बनते हैं। वे मार कर मारना और मर कर मरना सिखाते हैं। वे पथ प्रदर्शक बनते हैं। क्या कोई कह सकता है कि भगवान् कृष्ण ने युद्ध में महारथी न बन कर सारथीका क्षुद्र स्थान क्यों ग्रहण किया था? गहरी बात है। यदि भगवान् महारथी बनते तो पांडव कभी विजयी न होते। सारथी बनने से वे पांडव-सेना समुद्रके पथ प्रदर्शक बने रहे, महारथी बन कर वे योद्धा मात्र बनते। योद्धा का पद ही क्या है? इसका निश्चय भीष्म, द्रोण और कर्ण के चरित्र से होजायगा।

भारत मूर्ख है, यदि उसने उस एक व्यक्ति को अपना महारथी समझा है और उसे विश्राम की दो सांस लेने का अवकाश पाते ही युद्ध की चौकड़ी भूल कर विमूढ़ हो गया है। यह व्यक्ति योद्धा की हैसियत नहीं रखता, वह देश का सेनापति भी नहीं। इस लिये देशके हारने-जीतने में उसका कुछ स्वार्थ भी नहीं है। वह देशका पथ-प्रदर्शक है। वह देश का सारथी है। अपने अधिकार के वास्ते देश लड़ता है, वह देश को मित्र भाव से मार्ग बताता है। देश कायर बने तो वह देश को वीर बनाता है। देश अपने पैरों पर खड़ा होता, देश स्वयं अपने पर विश्वास करता। देश स्वयं अपने आप को समझता, अपने आप पर भरोसा करता और अपने स्वत्व को प्राप्त करता। वह देश के यश और अपयश का भागी नहीं था, अब भी वह देश का मित्र है। वह देश का सारथी है। निकालो; बाहर आने दो; तुम्हारे अर्जुन और भीम कहाँ हैं? देशवन्धुओ! तुम्हारे अभिमन्यु और पाञ्चाल वीर कहां हैं? उसकी गीता को सुनो—उसकी शंख-ध्वनि सुनो। अपना कर्त्तव्य देखो। अपना

लक्ष्य देखो। अपने आप को देखो, खड़े हो। अपने बाहुओं को वज्र का बल दो। अपने पैरों को लोहे के स्तम्भ बनाओ और अपनी छातियों को शिला सी अचल बनाओ। और सब सहारे—सब आसरे, सब आशा, सब निर्बलता त्याग कर युद्ध के मध्य क्षेत्र में अटल आत्म विश्वास द्वारा अपने ही आसरे अपने ही भुजबल से अपने ही हृदयरक्त से वीरों की कीर्त्ति को प्राप्त करो।

'आस पराई जो तके वे जीते जी मर जायं'। कभी-कभी आल्हा पढ़ा करो। अङ्गरेजी अनुवादों को छोड़ो। योरोप की प्रपंच भरी स्वाधीनता की थोथी बकवादों से भरी पुस्तकों में आग लगादो। आल्हा पढ़ो। हँसो! रोओ! उछलो! उन्मत्त बनो कपड़े फाड़ो और देखो कि हृदय में आत्मविश्वास की कुछ छाया उत्पन्न हुई है या नहीं? अधिक समझ सकते हो तो रामायण पढ़ो। तुलसीकृत या वाल्मीकि—एकान्त में बैठकर जहाँ रोना आवे वहाँ पेट भर कर रोओ। देखोगे कि कुछ-कुछ आत्म-विश्वास पैदा हो रहा है। और भी अधिक योग्यता हो तो महा-भारत पढ़ो। इसे बारम्बार पढ़ो, कुछ मिलेगा। जैसे अन्धे को आँख मिल जाती हैं, जैसे बाँझ को पुत्र मिल जाता है, जैसे पति को पत्नी मिल जाती है, जैसे बच्चे को माँ मिल जाती है, वैसे ही तुम्हें भी कुछ मिलेगा। मस्त होने की जगह मस्त हो जाना और पागल होने की जगह पागल। देखो इस से आत्म विश्वास पैदा होगा। और यदि तुम सच्चे भारतीय विद्वान हो, तुम्हारे मस्तक में कुछ भारतीय विद्या का विकास है तो उपनिषद् पढ़ो, नित्य पढ़ो। प्रातःकाल उषा के अंधेरे में एकान्त स्थान में और रात्रि के

१२ बजे के सन्नाटे में ऐसे पढ़ो जैसे तांत्रिक तन्त्र साधन करते हैं, तुम्हें जगत् विजयिनी शक्ति मिलेगी। पर्वत की तरह तुम्हारी विशुद्ध भावनायें आकाश तक उठेंगी। निर्मल तत्व की ज्योति से इन्द्रियां दिप उठेंगी। अमर तत्व हाथ लगेगा और तब तुम स्वयं चाहे जैसे पापी-पाखण्डी, छली-झूठे, दुर्वल-रोगी क्यों न हो; चाहे जिन व्यसनों में क्यों न फँसे हो, वैसी ही वञ्छाकांक्षा, वैसी ही विजयिनी दृढ़ता तुम्हारे रोम-रोम में रम जायेगी, जैसी तीस करोड़ नर समूह में से केवल एक ही व्यक्ति के शरीर में जाग्रत हुई है। और जब ऐसा होगा तब भारत के स्वर्ण-दिवस फूल वर्सावेंगे। उस दिन हमारे घूरे भी सज उठेंगे।

हम मर्द होकर अपनी स्त्रियों की आवरू बचाने में अयोग्य सिद्ध हुए हैं। हम पिता होकर अपने लालोंको कीड़ा मकोड़ा बनाते हैं। हम मुँह पर मूंछ रख कर शोक में गाय की तरह डकराते हैं। हम छाती पर वाल रख कर "रक्षा करो, रक्षा करो" चिल्लाते हैं हमसे विना पूछे ही हमारी वहिन-बेटियाँ और भाई कुली बनाकर वेच दिये गये हैं। हमारे ही घर में हमारी ही सामग्री हमें नहीं भोगने दी जाती है। मानों हम मरे हुए शिकार हैं।

मत सहो! अब मत सहो! आसरे का आसरा छोड़ो। भगवान् अन्तस्तल में विराजमान हैं। उसी पर विश्वास कर अपना कल्याण करो। अपनी रक्षा करो। खटमल मत बनो। नहीं तो लोग कहेंगे—"काले हिन्दुस्तानियों की आत्मवाद की पुरानी डींग कोरी बकवाद थी। इस काले चमड़े के भीतर न आत्मा थी न आत्मा का ज्ञान था और न आत्मा का विश्वास।"

(१३)

स्त्रियों को निर्भय करो।

क्या आपको मालूम है कि योरोप और अमेरिका में स्त्री जाति कितनी निर्भय है? वे रात-दिन, चाहे जब, चाहे जिस अवस्था में निर्भय दीख पड़ती हैं। वे हजारों मील की यात्राएं अकेली करती हैं। वे प्रत्येक विकास में स्वतन्त्रता से काम लेती हैं और उनको मनुष्यता के समस्त अधिकार प्राप्त हैं। भारतवर्ष में ये स्त्रियाँ, लुच्चों, गुण्डों, राहकटों, उठाईगीरों से भरे हुए बाजारों में बे-खटके घूमती हैं। घूमती ही नहीं, खुला सौन्दर्य बखेरती हैं, और किसी भी व्यक्ति का यह दुस्साहस नहीं जो उनकी तरफ आँख उठाकर देख सके।

उनकी यह निर्भयता, उनके शारीरिक बल या और किसी ऐसे कारण से नहीं हैं जिनका सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व से हो। वे अपेक्षाकृत हमारी स्त्रियों से ज्यादा कोमलांगी और मितभाषिणी होती हैं। उनकी यह निर्भयता, उनके सामाजिक विकास का फल है।

कभी भारतवर्ष की स्त्रियों की भी यही दशा थी। वे युद्ध में, राजनीति में, समाज में और जीवन की प्रत्येक समस्या को हल करने में समस्त मानवीय विकास और अधिकार की केन्द्र थीं। वे आज की भाँति सिर्फ बच्चा पैदा करने और गुलामी भोगने की

चीज न थीं। आज वे सब भांति से असहाय, अयोग्य और मान-
चीय अधिकारों से वञ्चित हैं, और विकास के सारे पहलुओं से
कोसों दूर हैं। ऐसी स्त्रियां हमारे लिये ऐसी सन्तान नहीं पैदा
कर सकतीं, जिसकी हमें आज इस आपत्तिकाल में आवश्यकता
है। आज हमारा नैतिक पतन यहां तक होगया है कि हम अपने
आप को स्त्रियों के पति और संरक्षक कहलाने में बड़े भारी गर्व
का अनुभव तो करते हैं, लेकिन वास्तव में इन दोनों ही योग्यताओं
को हम सैकड़ों वर्षों से खो चुके हैं। आज हम स्वयँ मन, वचन,
कर्म से स्त्रियों जैसे हैं, और स्वयं किसी पति या संरक्षक की
आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

आये दिन गुण्डों के उपद्रव देखते हुए और सुनते हुए हमारी
आँखें और कान थक गये हैं। लेकिन हम अन्धे और बहरे नहीं हुए।
न हमारी आंखें फूटीं और न कान ही फूटे। यह हमारी बेहयाई
के जीवन का छोटा-सा उदाहरण है। अगर कोई बदमाश गुण्डा
हमारी किसी बहिन-बेटी को अपमानित करता है, या ले भागता
है, तो हम ज्यादा से ज्यादा इतना कर सकते हैं कि पुलिसमें उस
की इत्तिला करदें। हमारी बेहयाई और नामर्दी हमको ऐसे अवसरों
पर जान पर खेल जाने के लिये नहीं उकसाती। और हमारा यह
कमीना धर्म, और सामाजिक पतित बन्धन, हमें उस असहाय स्त्री
को जिसकी दुरवस्था के कारण स्वयं हम हैं, भविष्य के अंधेरे
कुऐ में धकेलकर उसका जीवन ही समाप्त करने को विवश कर
देता है। हाल ही में एक हिन्दू लड़की को, जिसके पिता को मरे
केवल दस दिन हुए थे, कुछ बदमाश ज़बर्दस्ती उठा ले गये, जब

कि वह अपने घरके अन्दर बैठकर भोजन कर रही थी। और हज़ारों ही मनुष्य इस घटना को चुपचाप देखकर रह गये। बंगाल ख़ास तौर से इन कुकृत्यों के लिये प्रसिद्ध हो रहा है, और वहां इस प्रकार की घटनाऐं दिन-दिन बढ़ रही हैं। अभी कुछ दिन पूर्व बङ्गाल कौन्सिल में यह प्रश्न उठाया गया था, और होम-मेम्बर के उत्तर से पता लगा था, कि स्त्रियों के अपहरण करने के सबसे अधिक मामले पूर्वी बँगाल के मेमनसिंह, बाकरगञ्ज आदि स्थानों पर और पश्चिमी बँगाल के चौबीस परगना आदि ज़िलों में बहुत हुए हैं। होम मेम्बर ने यह स्वीकार किया था कि ऐसे मामलों में क़ानून के अनुसार अधिकसे अधिक सज़ा, जो अभियुक्त को दी जानी चाहिए, वह किसी को नहीं दी गई।

क्या हमारी स्त्रियों की रक्षा क़ानून कर सकता है? जो प्रश्न ग़ैरत से सम्बन्ध रखता है, उसका निराकरण क़ानून से नहीं हो सकता। अगर देश के मर्दों के शरीर में गरम रक्त का प्रवाह नहीं है और स्त्रियों की रक्षा के लिए उनमें जान ख़तरे में डालने का साहस नहीं हैं तो स्त्रियों की रक्षा का और कोई उपाय हमारे सामने नहीं आ सकता। हाल ही में अमेरिका से एक समाचार मिला है कि एक अमेरिकन युवती को भगाने के अभियोग में मुल-ज़िम को फाँसी की सज़ा दी गई। कुछ दिन पूर्व राँची में एक गोरी बालिका पर बलात्कार करने के अभियोग में अभियुक्त को आजन्म कालेपानी की सज़ा दी गई थी। इसमें कोई शक नहीं कि सरकार की दृष्टि में भारतीय स्त्रियों का उतना ऊँचा मान नहीं, जितना गोरी बीबियों का है। लेकिन यह हो भी कैसे सकता

हैं, जब कि हम स्वयं ही उनका कोई मान नहीं करते ? लड़कियों को जबर्दस्ती उठाकर ले भागना इस विचित्र हिन्दू धर्म में धर्म का एक अङ्ग माना गया है । इतिहास प्रसिद्ध महाभारत की यह घटना कि भीष्म पितामह काशीराज की कन्या को जबर्दस्ती हरण कर लाये थे, उदाहरण के लिये काफ़ी है ।

बहुओं पर बहुधा घरों में चुपचाप अत्याचार होते रहते हैं । उनके साथ सास, ससुर और दूसरे परिवार वालों का जो अमानुषिक अत्याचार होता है, कभी-कभी तो वह रोमाञ्चकारी हो जाता है । हाल ही में एक घटना हमको देखने को मिली थी, कि एक युवती बहू को उसके पति की अनुपस्थिति में कुटुम्बियों ने पीटकर मार डाला । और अन्त में उसके मुँह में कारबोलिक एसिड डालकर कह दिया गया कि इसने तेजाब खाकर आत्म-हत्या कर ली । ग्वालियर में एक शख्स ने अपनी सोती हुई नवविवाहिता स्त्री के मुंह में कपड़ा ठूंसकर पेट्रोल छिड़क कर उसको जला डाला ।

बहुधा छोटी उम्रमें शादी कर देने के बाद उन्हें अस्वाभाविक रीति से प्रसङ्ग योग्य बनाने की कोशिश की जाती है । इस कोशिश में बहुधा बालिकायें अपने अध-कच्चे शरीर के साथ नष्ट कर दी जाती हैं । एक बार एक भयानक घटना हमने किसी अखबार में पढ़ी थी कि एक पुरुष ने जिसकी उम्र पैंतीस वर्ष की थी, अपनी पत्नी को जिसकी उम्र दश वर्ष की थी, इस लिए खिड़की में से सड़क पर फेंक दिया था कि वह उसकी पाशविक इच्छा पूरी करना नहीं चाहती थी । कुछ दिन पूर्व मैं

राजपूताने के एक क़स्बे में ठहरा हुआ था। एकाएक बहुत से आदमियों का शोर गुल सुनकर मैं बाहर आया और आश्चर्य-पूर्वक देखा कि एक पुरुष एक छोटी सी लड़की को जबर्दस्ती सड़क पर घसीट रहा है और वह अत्यन्त उच्च-स्वर से क्रन्दन कर रही है। सैंकड़ों आदमी खड़े हुए तमाशा देख रहे थे, लेकिन कोई भी उस लड़की को बचाने की चेष्टा नहीं कर रहा था। दरियाफ़्त करने से मालूम हुआ कि यह व्यक्ति इस लड़की का पति है। लड़की बेवकूफ़ और पागल है, ससुराल नहीं जाना चाहती और वह जबर्दस्ती लिये जाता है। मैंने सड़क पर आकर उस पुरुष के हाथ से लड़की को छीन लिया, तब भी किसी पुरुष ने उसकी भर्त्सना नहीं की। सब उल्टे मुझे ही समझाने की कोशिश करने लगे कि आप क्यों दूसरे के मामले में दख़ल देते हैं? वह उसकी स्त्री है, उसे ले जाने का अधिकार है।

ये दो-चार उदाहरण यह प्रमाणित करने के लिये काफ़ी हैं कि स्त्रीजाति के पतन में हम कितने सहायक हैं। धर्म-शास्त्र के ग्रन्थों में मनु, आपस्तम्भ, बौधायन, वशिष्ठ आदि प्राचीन स्मृतिकार पति के मरने पर, उसकी पत्नी को, उसकी सम्पत्ति में से कुछ भी अधिकार नहीं देते। नारद और कात्यायन भरण-पोषण की सुविधा देना चाहते हैं। गौतम और बृहस्पति कुछ थोड़ा-सा भाग! अलबत्ता शङ्ख और याज्ञवल्क्य जो उत्तरकालीन स्मृति-कार हुए हैं, वे पति की सम्पत्ति पर उसकी स्त्री का अधिकार मानते हैं, लेकिन वर्तमान हिन्दू लॉ जिन स्मृतियों के आधार पर बना है, उनमें स्त्रियों के अधिकारों को बिलकुल ही छीन लिया

गया है। मनु खास तौर से स्त्रियों के अधिकारों पर कुठाराघात करता है। मनु की दृष्टि में स्त्रियाँ कभी भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं और वह पिता और पति की सम्पत्ति में स्त्री को कोई अधिकार नहीं देता। मनु के विवाह सम्बन्धी नियम स्त्रियों के अधिकारों को हरण करने वाले, उनका अपमान और उनका नैतिक पतन करने वाले हैं। मेरी खुली राय है कि स्त्रियों को संगठित होकर मनु की पुस्तक का पूरा तिरस्कार करना चाहिये। हिन्दू समाज में आज जो स्त्रियों की दुर्व्यवस्था है, मनु उसका खास तौर से ज़िम्मेदार है।

'कन्यादान' हिन्दू विवाह पद्धति की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है। लड़कियों के पिता समझते हैं कि वे कन्यादान करके एक बड़ा पुण्य लूटते हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति से पूछना चाहता हूँ कि यह कन्यादान आखिर क्या बला है? पिता लोग कन्याओं को समझते ही क्या हैं! क्या कन्या पिता की मेज़, कुर्सी, क़लम दावात है, या कोई जर-खरीद चीज़ है, कि वह जी चाहे जिसे दानकर सकता है? क्या जीते-जागते मनुष्य को दान करना एक भयानक-असभ्यता और जंगलीपन की बात नहीं है? क्या लड़कियाँ मनुष्य नहीं, उनके आत्मा नहीं, उनके शरीर नहीं, उनका व्यक्तित्व नहीं? यदि उन्हें भेड़, बकरी या सम्पत्ति की भाँति दान दे डालना या बेच डालना धर्म है, तो हम नहीं कह सकते कि इस पाजी हिन्दू-धर्म में अधर्म क्या है? मनु ने जहाँ कन्याओं को दान करने का विधान किया है, वहाँ उन्हें बेच डालने का भी संकेत किया है।

सिर्फ यही नहीं, जिस बात को साधारणतया अपराध माना जाना चाहिये, जो नैतिक और सामाजिक, दोनों दृष्टियों में पतित कर्म हैं, अर्थात् रोती कलपती लड़की को जबर्दस्ती लेकर भाग जाना—वह भी एक विवाह मान लिया गया। मनु के समर्थक बहुत से ग्रन्थकार लोग हैं और जनता तो है-ही ! मनु के सिवा और ग्रन्थकारों ने भी स्त्रियों को अपमानित करने में कसर नहीं छोड़ी। तुलसीदास ही को लीजिये जिनकी बनाई हुई रामायण को हिन्दू स्त्रियाँ अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के भाव से पढ़ती हैं। आपको मालूम है, उसमें स्त्रियों को क्या उपदेश दिये गये हैं ? यह महाशय निहायत भलमनसाहत से स्त्रियों को सलाह देते हैं, कि उनका पति अन्धा, बहरा; लूला, लँगड़ा, लुच्चा, बदमाश, शराबी—चाहे जैसा भी हो, उसे ईश्वर समझकर, मन, वचन, कर्म से उसकी पूजा करना-ही उनका धर्म है। वही उनके लिये परमेश्वर है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जिन हिन्दुओं ने निर्लज्जता-पूर्वक एक ही समय में अनेकों स्त्रियों से विवाह किये, और अविवाहित स्त्रियों से भी सम्बन्ध रक्खे, उन्होंने यहीं तक धृष्टता नहीं की कि वह उन्हें जीते-जी अपना गुलाम बनावें,बल्कि, उन्होंने यह भी व्यवस्था दी कि उनके मर जाने पर वे ज़िन्दा जला दी जायें। मध्यकालके हिन्दुओं का सती का इतिहास पृथ्वी भरके मानवी इतिहास में सब से अधिक भयानक, वीभत्स और पाप से परिपूर्ण है। हिन्दुओं को तो इसी एक अपराध पर नष्ट होजाना चाहिये। आज उसी का यह परिणाम है कि स्त्री-जाति-मात्र मनुष्यता से हीन, आत्म-ज्ञान से रहित, च्युत हुई पड़ी हैं।

परन्तु क्या हम स्त्रियों के बिना जिन्दा रह सकते हैं ? क्या हमारा समाज जिन्दा रह सकता है ? क्या स्त्रियां हमारे बन्धनों को स्वीकार करती रहेंगी ? यह अब असम्भव है। स्त्रियों को जगाना होगा। उन्हें जागना होगा, निर्भय बनना होगा। तुर्किस्तान की स्त्रियों ने पीढ़ियों के पर्दे को फाड़कर फेंक दिया और वे जीवन और आलोक के मैदान में उतर आई हैं। एशिया की स्त्री जाति का एक बहुत बड़ा संगठन होने वाला है, जिसमें हिन्दू-स्त्रियों को अगर प्रमुख भाग लेने का अवसर न मिला, तो हिन्दू जाति उस अधिकार से च्युत होजायगी, जिसकी उसे सैंकड़ों वर्षों से प्रतीक्षा है और भाग्य जिसे निकट ले आया है।

मैं स्त्रियों को सलाह दूँगा, कि वे ढीले ढाले घाघरों को फाड़ कर फेंक दें, जेवरों का मोह त्याग दें, सिंगार-पिटार की तरफ़ से ख्यालात हटालें। वे इस बात को दिमाग़ से निकाल दें कि वे पुरुषों की आश्रित और ग़ुलाम हैं। वे अपने को सिंहनी समझें, और सिंहनी की भाँति रहें। उन्हें आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास अपने मन में धारण करना चाहिये। उन्हें इस बात की आशा छोड़ देनी चाहिए कि स्वार्थी और कायर पुरुष उनकी रक्षा कर सकते हैं। उन्हें प्रति क्षण अपनी रक्षा स्वयँ करने में तत्पर रहना चाहिये। उनको चाहिये कि कटार को अपना सर्व-प्रिय आभूषण बनाएँ और सम्भव हो तो रिवाल्वर को। और आवश्यकता पड़ने पर निर्भय होकर उन्हें उसका उपयोग करना चाहिए। भले ही, उनकी जान जोखिम में पड़ जाये। परन्तु—इज़्ज़त और आबरू की रक्षा वही कर सकता है जो निर्भय है।

उनको गूँगों-बहरों की भाँति रहने की आदत त्याग देनी चाहिये। उन्हें प्रत्येक सामाजिक और सार्वजनिक कार्यों के अन्दर भाग लेना चाहिये। दूषित और बदमाश, लफंगे पतियों को आवश्यकता पड़ने पर अच्छी तरह ठोंक देना चाहिये। मैं चाहता हूँ कि अगर किसी स्त्री का पति व्यभिचारी, शराबी या जुआरी हो, तो वह उसे घर में बन्द करदे और हरगिज़ खाना न दे। प्रत्येक स्त्री को पति की अपमान-जनक आज्ञा मानने से इनकार कर देना चाहिये। विवाह के समय कन्या-दान की पद्धति का विरोध करना चाहिये। आपत्तिकाल के लिए पत्नी को अपनी सम्पत्ति-स्वरूप पति की सम्पत्ति का एक उचित भाग अवश्य अपने लिए लिखवा लेना चाहिये। प्रत्येक हिन्दू स्त्री दुर्गा का अवतार है, उसे दुर्गा ही के समान होना चाहिये, जो सिंह पर चढ़ती थी और दुष्टों को देखते ही गरज कर कहती थी—"गर्ज गर्ज क्षणं मूढ़..." ऐसी वीराङ्गना होने पर ही स्त्रियां निर्भय हो सकती हैं, और निर्भय होकर ही वे देश की विपत्ति दूर करने में सहायक हो सकती हैं।

शास्त्र में लिखा है कि कोई भी यज्ञ बिना स्त्री की सहायता के पूर्ण नहीं हो सकता। भारत की स्त्रियां उत्सर्ग के नाम पर सदा संसार में अग्रसर रही हैं। हँसते-हँसते विश्व-ध्वंसिनी ज्वाला को आलिङ्गन करने से बढ़कर कोई भी उत्सर्ग देखने को नहीं मिला। जब राजपूताने की आन पर आ बनी थी और राजपूत बच्चों को अपनी तलवार के जौहर दिखाने के अवसर आये थे, उस समय स्त्रियों ने न केवल पति-पुत्रों को ही सहर्ष विसर्जन

किया था, प्रत्युत् वहाँ यशस्वी तलवार लेकर वीर-नरों का अनु-सरण भी किया था। क्या भारत से स्त्रियों का वह गौरव नष्ट होगया है ? ईश्वर न करे कि ऐसा हो।

मैं यह मानता हूँ कि वीरत्व को फाँसी लग गई है। तलवार की धार में जंग लग गई है। साथ ही स्त्रियाँ भी विलास की सामग्री, पैर की जूती, मोल की बाँदी, व्यभिचार की माध्यम, और बच्चे बनाने की मशीन बना दी गई हैं। यह भी सच है कि वैधव्य, बाल-विवाह, अशिक्षा, आदर्श-हीन जीवन, और पराधीनता ने उनकी नस्ल का विध्वंस कर दिया है। पर मुझे यह भरोसा नहीं होता, कि इतनी जल्दी उनके हृदय का तेज—मन का साहस,—आत्मा की स्वच्छता भी नष्ट होगई होगी ! फिर भी मैं कहता हूँ कि स्त्रियों में अभी भी इतना बल और योग्यता है कि कोई भी पुरुष उनके सामने झुक जायगा।

मैं फिर यह कहता हूँ कि कोई भी स्त्री पुरुष की गुलाम नहीं है जो वह उसकी आज्ञा, इच्छा तथा अत्याचार को चुपचाप स्वीकार करे। और न कोई धर्मपत्नी अपने पति की वेश्या ही है कि उसे रिझाने को दिन-रात श्रंगार पिटार ही करती रहे। प्रत्येक स्त्री गृहणी है, घर की स्वामिनी है। जिस पुरुष ने वेद और ईश्वर को साक्षी देकर उसका हाथ पकड़ा है, उसे अर्धाङ्गिनी बनाया है, उस के सर्वस्व में वह बराबर की अधिकारिणी है। वे स्त्रियाँ धिक्कार और निन्दा के योग्य हैं, जो चुपचाप पतियों का अत्याचार और तिरस्कार सहती हैं। अजी मैं कहता हूँ कि क़साइयों का क़ुसूर नहीं है, क़ुसूर गायों का है जो चुपचाप अपनी गर्दनें, लम्बे-लम्बे

सींग सिर पर रहने पर भी, छुरी के नीचे झुका देती हैं। दुनिया में ऐसा कोई क़साई नहीं पैदा हुआ जिसने सिंह का शिकार किया हो, क्योंकि वह वीरता पूर्वक ऊँची गर्दन किये युद्ध के लिये तैयार रहता है। गायों बकरियों ने अपनी गर्दनें चुपचाप झुका-झुका कर क़साइयों की जाति उत्पन्न की है।

स्त्रियों ने भी पुरुषों के अत्याचार सहना अपना धर्म मान कर अपना सत्यानाश किया है।

पतिव्रत धर्म का यह अर्थ नहीं है कि पति की सब आज्ञाएँ चुपचाप पालन की जायँ। जिस समय जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह युद्ध में हार कर लौट आये तब उनकी रानी ने क़िले के फाटक बन्द करा दिये थे और कहा था कि मैं उस कायर का मुँह न देखूंगी जिसने शत्रु को पीठ दिखाई है। यह उस वीराङ्गना का पतिव्रत धर्म था।

ईश्वर करे कि हमारी बहनों और बेटियों में यह तेज उत्पन्न हो कि जिस से हिन्दू घरों की दरिद्रता और पाप भस्म हो जायँ। वे अपने ऊपर उस विपत्ति को झेलने को तत्पर रहें जो देश के प्रत्येक सच्चे पुत्र पुत्रियों पर आने वाली है। बहिनों और बेटियो! मैं तुम से यह कहना चाहता हूँ कि तुम अपना अचल सुहाग माता वसुन्धरा के चरणों में विसर्जन करदो।

---

(१४)

धर्म और पाप के धन को बलिदान करो

भारत धर्मप्रधान देश है और मनुष्य पाप का चोर है। इस लिये धर्म और पाप की विना सहायता लिये मैं मानने वाला आदमी नहीं। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि पाप और धर्म के खातों में भरपूर धन है। और उसका कुछ भी सदुपयोग नहीं हो रहा है।

पहिले धर्म खाते को मैं जांचना चाहूंगा। इस मद में लाखों मन्दिर, मक़बरे, समाधि और अड्डे हैं। काशी, वृन्दावन, नाथ-द्वारा प्रभृति मन्दिरों में सोने का मेह बरसता है। बहुत से मन्दिरों के पीछे लाखों की जागीरें तथा सैकड़ों गांव हैं। और उस अतुल सम्पत्ति के अधिकारी उस मन्दिर के महन्त और पुजारी हैं। इस सब के सिवा काशी, गया, प्रयाग आदि के पण्डे पेशेवर धर्म कमाऊ हैं। इनके पेट में दान के करोड़ों रुपये पहुंच जाते हैं। नाथ-द्वार के मन्दिर के महन्त को ८५ गांव तो उदयपुर राज्य से दिये गये हैं। इसके सिवा उस मन्दिर की आय इतनी है कि इस समय भी यदि उसकी तलाशी लीजाय तो १० करोड़ के जवाहिरात वहां से बरामद हो सकते हैं। हालही में कुछ दिन पूर्व वहां के महन्त के पुत्र—गद्दी के उत्तराधिकारी—एक वेश्या से विवाह कर के जब वहां से भागने लगे तो सुना गया कि नागरिकों ने उनकी

मोटर रोकली और लग भग १ करोड़ के जवाहिरात उन से छीन लिये। फिर भी वह लाखों रुपये का माल वहां से ले आये थे। विचारने की बात यह है कि इस मन्दिर में जहां १०००) रोज का खर्च है, एक पाई या एक चावल तक किसी भूखे को नसीब नहीं होता। कलकत्ते के गोविन्द भवन में जो ब्रह्मनिष्ट महात्मा संस्थापक हैं उन्होंने लाखों रुपये की सम्पत्ति एकत्र करली है। प्राचीन काल के मन्दिरों के पहले जैसे वैभव अब नहीं--पर अब भी यह धन हृदय में हड़कम्प उत्पन्न करने वाला है। धर्म व्यवसाइयों के ऐसे भारी और मबूजत गढ़ बने हुये हैं कि जिन्हें हम नजर से गिरा ही नहीं सकते। प्राचीन दिमागी गुलामी के कारण बड़ी से बड़ी शक्तियां भी धर्म के आगे सिर झुकाती आई हैं।

बड़े बड़े व्यापारी सेठ साहूकारों ने अपनी दूकानों में एक धर्मादा टेक्स जोड़ रखा है। यह टेक्स एक पैसे से लगाकर एक आना सैकड़ा तक वे ग्राहकों से वसूल करते हैं। इस धर्मादा की रक़म उनकी दूकानों में लाखों रुपयों की राशि में जमा है। सुनने वालों को यह जान कर घृणा होगी कि वे उस धन से बेटी की शादी करते, बालकों के संस्कार करते और नजाने क्या-क्या करते हैं।

हम एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यापारी को जानते हैं जिसने अपनी दूकान पर धर्मार्थ का साइनबोर्ड लगाया है। इस से एक लाभ तो यह हुआ कि इन्कमटेक्स से पिण्ड छुटा। आप यह न समझें कि वहाँ आपको सस्ता या मुफ्त माल मिल जायगा। नहीं, आप की

गाँठ तो भली भाँति काटी ही जायगी, अन्तर सिर्फ यह है कि उसका जो मुनाफ़ा होगा वह धर्मखाते लगाया जायगा। इसका कोई हिसाब देने को सेठ जी बाध्य नहीं। कहना नहीं होगा कि उसी फ़र्मके लाभ में से सब नौकरों की तनख्वाहें बाँटी जाती हैं।

बहुत से श्रीमान् सेठ लोग धर्मशाला बनवाते, प्याऊ लगवाते, औषधि और वस्त्र बँटवाते, तथा सदाव्रत खुलवाते हैं। परन्तु इन सब कार्यों से क्या देश का कुछ भी भला हो सकता है?

आप बड़े-बड़े मन्दिरों में जाइये। आप महन्तों और पुजारियों को राजाओं की भाँति रहते पावेंगे। मैं यह पूछने का साहस करता हूँ कि ये लोग धर्म की कमाई के स्वाधीन स्वामी बनने का क्या अधिकार रखते हैं?

इन्हें तो देवता का त्यागी सेवक होना चाहिये था, परन्तु ये सिर्फ राजाओं की भाँति ऐश्वर्य ही से नहीं रहते—उन्हीं की भाँति पापी, निर्दयी और मूर्ख भी हैं। मैं चाहता हूँ कि जनता इनसे रत्ती-रत्ती सम्पत्ति छीन ले और जब तक ऐसा न हो, एक पाई भी मन्दिरों में न चढ़ाई जाय। देवता को रुपये पैसे की कोई जरूरत नहीं, यदि वह सच्चा देवता है। देवता को महलों की भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो यही है कि इन पुजारियों का विध्वंस कर दिया जाय। और इन इमारतों में बच्चों के लिए शिक्षणालय स्थापित कर दिये जायं। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता, प्रत्येक मन्दिर और मठ की तमाम सम्पत्ति सार्वजनिक समझी जाय, और पुजारियों के समस्त ज़मींदारी के अधिकार छीन लिये जायं।

मैं जब मन्दिरों में जाकर देखता हूँ कि इन नीच पुजारियों और पत्थर के देवताओं के लिये लाखों आदमियों के हृदय में कितनी श्रद्धा और त्याग के भाव हैं तो मैं सोचा करता हूँ यदि इन पुजारियों के हृदयों में देश और जाति के लिये कुछ दर्द होता तो लक्षावधि मनुष्यों की आत्माएँ आज संगठित हो जातीं। पर ये विलासी, मूर्ख, अत्याचारी और पाखण्डी आदमी जो पत्थर को ईश्वर कहते हैं, कैसे ईमानदार हो सकते हैं?

देश के युवकों को मैं सलाह देता हूँ कि वे सँगठित होकर इन खजानों पर धावा बोल दें, और उन्हें क़ब्ज़े में कर लें, क्योंकि वह उन्हीं का धन है, उन पर सत्याग्रह करके मन्दिर में भेंट चढ़ाने की पद्धति को बन्द करावें।

इसके साथ ही मैं पाप की कमाई को शरीक किया चाहता हूँ। मेरा मतलब ठग, चोर, सट्टेबाज़, सूदखोर और वेश्याओं से है। इन भाई बहिनों को यह अधर्मोपार्जित धन रत्ती २ करके देश के चरणों में देकर अनुताप करके अपनी आत्मा का बोझ इसी मनुष्य जन्म में उतार देना चाहिये।

संसार क्षण-भंगुर है और मनुष्य अनाचारसे कभी सुखी नहीं हुआ। परोपकारके लिए शरीरकी बोटियां कटानेमें जो मजा आता है,वह मजा स्वार्थ के किसी भी भोगको भोगने में नहीं आता।

मेवाड़ के सूर्य्य प्रताप के मन्त्री भामाशाह ने ऐसी ही आपत्ति के समय अपनी समस्त सम्पत्ति उनके चरणों में रख दी थी। और उसीसे मेवाड़ का उद्धार हुआ, नाम अमर हुआ। न प्रताप रहे, न भामाशाह, न वह सम्पति!

महाप्रभु बुद्ध भगवान् के जीवन में एक पवित्र किन्तु तेजोमयी घटना का वर्णन है। गौतम वैशाली में आये जो कि गंगा के उत्तर में लिच्छवियों की राजधानी थी। वह अम्बपाली नामक एक वेश्या की आम की वाड़ी में ठहरे। जब उस वेश्या को मालूम हुआ तो वह उनकी सेवा में आई, और उन्हें भोजन के लिये आमन्त्रित किया। गौतम ने सहर्ष उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

अब वैशाली के लिच्छवि लोगों ने सुना कि बुद्ध वैशाली में आये हैं और अम्बपाली की वाड़ी में ठहरे हैं। वे लोग सज-धज कर वहाँ गये। अम्बपाली ने उनके पहिये के बराबर पहिया और धुरे के बराबर धुरा, और उनके जोत के बराबर अपना जोत रक्खा, और रथ हांका। लिच्छवियों ने उससे पूछा—"अम्बपाली! यह क्या बात है, तू हमारे बराबर रथ हांक रही है?"

उसने उत्तर दिया—"मेरे प्रभु, मैंने बुद्ध और उनके साथियों को कल भोजन के लिए आमन्त्रित किया है।"

उन लोगों ने कहा—"हे अम्बपाली! हमसे १ लाख रुपये ले ले, और यह भोजन हमें कराने दे।"

वेश्या ने कहा—"मेरे प्रभु! आप मुझे सब वैशाली और उस के आस पास का सब राज्य दे दें, तब भी मैं ऐसी कीर्तिकर जेवनार न बेचूंगी।"

तब लिच्छवियों ने यह कहकर हाथ पटके कि हम लोग अम्बपाली से हरा दिये गये। यह हमसे बढ़ गई। यह कह कर वे वाड़ी तक गये।

वहाँ उन्होंने गौतम को देखा और कल के लिए निमन्त्रण दिया। परन्तु बुद्ध ने उत्तर दिया—"हे लिच्छवियों, मैंने कल को अम्बपाली का भोजन स्वीकार कर लिया है।"

अम्बपाली ने उन्हें भोजन कराया, और तब उस को शिक्षा और उपदेश दिया गया। अम्बपाली ने कहा—"प्रभु, मैं यह महल और सम्पत्ति भिक्षुओं को देती हूँ जिनका नायक बुद्ध है। और उसका वह दान स्वीकार किया गया।

इस पवित्र कथा के जोड़ की घटना कदाचित् ही दूसरी किसी को मिल सकती है। वेचारी अवलायें जन्म से लाचार होकर पुरुप-पशुओं की लोलुप-लालसा को तृप्त करने को पतन के मार्ग पर ढकेल दी जाती हैं और वे समाज की सब से अधिक घृणा की वस्तु हो जाती हैं। महाप्रभु बुद्ध के इस आचार से अधिक धार्मिक और उदाहरण मैं दे नहीं सकता। मैं केवल उन भाइयों से जिनका दुर्भाग्य से वेश्याओं से सम्बन्ध हैं, यह अपील करता हूँ कि वे जैसे बने उन्हें अम्बपाली के अनुकरण करने को तैयार करें। इससे अब तक के समस्त पापों का उत्तम प्रायश्चित हो जायगा।

अन्त में मेरा कथन यह है कि पाप और पुण्य दोनों कमाइयों का सर्वस्व ही हरण करना चाहिये। आंशिक मात्र नहीं। तभी उस धन का यथेष्ट उपभोग हो सकता है।

वेश्या बहनों को सामाजिक जीवन में स्थान दो।

भारतवर्ष में क़रीब पौने ५ लाख स्त्रियां खुल्लम-खुल्ला वेश्या का पेशा कमाती हैं और इनकी सालाना आमदनी लगभग ६२ करोड़ रुपया है। यह गिनती सिर्फ उन वेश्याओं की है, जिन्होंने खुल्लम-खुल्ला अपना पेशा वेश्या लिखवाया है। इनके सिवा जो छिपे छिपे वेश्या-वृत्ति करती हैं, उनका कोई हिसाब नहीं है।

आपको इन ६२,००,००,००० (बासठ करोड़) रुपये की तरफ दृष्टि देनी चाहिये। पाठक जानते हैं कि भारतवर्ष में आजकल सिर्फ साठ करोड़ रुपये का कपड़ा विलायत से आता है, जिसके बल पर लंकाशायर और मैनचेस्टर की भीषण मशीनों ने भारत के करोड़ों श्रमजीवियों का खून चूस डाला है। इन ६० करोड़ रुपयों के न मिलने से देश के लाखों जुलाहे भंगी का काम तक कर रहे हैं। इसी साठ करोड़ की रकम को बचाने के लिए महात्मा गान्धी ने जो विराट् प्रयत्न किया है, उससे मैनचेस्टर और लङ्काशायर में हाहाकार मच गया है।

परन्तु वेश्यायें ६२ करोड़ रुपये की भयङ्कर रक़म हर साल ग़रीब भारत की गाढ़ी कमाई से वसूल करके हमें क्या दे रही हैं? आतशक, सुजाक, और तरह-तरह की बेइज्ज़ती। मैनचेस्टर की हिमायती सरकार है। पर इन भयानक वेश्याओं का हिमा-

यती कौन है ? क्या ये लङ्काशायर और मैनचेस्टर की मशीनों से कम भयानक हैं ?

यदि इन ६२ करोड़ का वार्षिक सूद दर सूद लगाया जाय, तो लगभग पौने ४ करोड़ रुपया होता है। भारत में १२ वर्ष तक यदि इतनी ही वेश्यायें बनी रहीं, तो वे लगभग आठ अरब रुपया कमायेंगी; जिनका सिर्फ़ सूद ही इतने दिनों में ५० करोड़ रुपये से ऊपर हो जाता है।

जिस देश में ४० वर्ष के भीतर १७ अकाल पड़ें और उनसे डेढ़ क़रोड़ आदमी भूख से तड़प कर मर जांय; जिस देश में प्रति वर्ष १० लाख, प्रति मास ८६ हज़ार, प्रतिदिन २८८०, प्रति घण्टा १२० और प्रति मिनट दो मनुष्य 'हाय अन्न ! हाय अन्न !' कहकर मरें, जहां के प्रत्येक मनुष्य की वार्षिक आय १७) से भी कम है; जहां ७० लाख भिखारी द्वार-द्वार टुकड़े मांगते फिरते हैं; जहां १० करोड़ किसान एड़ी-चोटी का पसीना एक कर मुश्किल से एक वक्त रूखा-सूखा आधा पेट भोजन पाते हैं; वहां वेश्यायें ६२ करोड़ (!) रुपये प्रतिवर्ष हरामख़ोरी से कमा ले जायँ ? अपनी अस्मत, लाज, लिहाज, इज्जत और धर्म को सरे बाजार बेच कर, और अपने को शरीफ़ज़ादे कहने वाले, इन रजीलों के इस पाप के सौदे को अपनी आबरू, स्वास्थ्य, धर्म ईमान्दारी के दाव पर यह भारी सौदा करें, तो उस देश के लिए इससे भयङ्कर और शर्म की कोई दूसरी बात नहीं हो सकती।

हम यह पूछते हैं कि इन पौने पाँच लाख प्रलय के समान नाशकारिणी वेश्याओं के लिए समाज ने क्या प्रबन्ध सोचा है ?

आज देश में नवीन राष्ट्र के निर्माण की तैयारियां बड़े जोर-शोर से हो रही हैं। तब क्या यह असाधारण विषय यों ही रह जायगा? क्या ये पौने पांच लाख स्त्रियां गला घोंट कर मार डाली जा सकती हैं? क्या इन्हें जहर खिलाया जा सकता है? अथवा ये भूखी-प्यासी तड़पाकर मारी जा सकती हैं?

निस्सन्देह इनका बीज नाश हो जाना चाहिए, परन्तु यह एक बहुत कठिन समस्या है। गत ३० वर्षों से भारतवर्ष में वेश्याओं के समाज से निष्कासन का आन्दोलन जोरों पर है, पर इस आन्दोलन से वेश्याओं की संख्या में तो कमी कुछ भी नहीं हुई, प्रत्युत उनकी दशा अधिक शोचनीय हो गयी है। भारतवर्ष में कुछ वेश्यायें तो हिन्दुओं और मुसलमानों की ऐसी जाति की हैं, जिनकी कन्यायें जन्म ही से वेश्या होती हैं और उन्हें उनका पेशा, प्रारब्ध या अनिवार्य कर्त्तव्य बताया जाता है। बहुत सी ऐसी होती हैं, जो सामाजिक बन्धनों और धार्मिक अत्याचारों के कारण वेश्या होने को विवश होती हैं। इनके सिवा ऐसी तो बहुत कम स्त्रियां हैं, जो कुकर्मी या वासना की गुलाम होने के कारण वेश्याएं बनी हों। ऐसी दशा में इन बहिनों को नीच समझ कर घृणा करना मेरी दृष्टि में जघन्य पाप है। हम केवल वेश्याओं का बहिष्कार करके, उनके प्रति समाज में ग्लानि या तिरस्कार के भाव उत्पन्न करके वेश्यावृत्ति को नष्ट नहीं कर सकते। वेश्यावृत्ति को नष्ट करने के लिए हमें हर तरह उन्हें साधारण स्त्री-जाति की दृष्टि से देखना और सच्चे मर्द की तरह उसी भांति उनके सुख-दुःख और जीवन की समस्याओं को

हल करना होगा जैसा कि हम अपनी बहू-बेटियों या देश की अन्य महिलाओं की करते हैं।

भारत के प्राचीन इतिहास में हम वेश्याओं को प्रतिष्ठित रूप में देखते हैं। वात्सायन ने अपने कामसूत्र में 'सारस्वती गोष्ठी' का उल्लेख किया है जो प्रतिदिन या प्रति सप्ताह अथवा प्रतिमास होती थी। इन गोष्ठियों में सब प्रकार के स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते थे, जिनमें प्रधान भाग गायकों और वेश्याओं का रहता था। प्रवीण और चतुर वेश्यायें राजासे इनाम और आदर पाती थीं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि चतुराई की शिक्षा प्राप्त करने को राजा लोग राजकुमारों को वेश्याओं के यहां भेजते थे। परन्तु वे वेश्यायें शुद्धाचारिणी हुआ करती थीं। वाल्मीकिने लिखा है—

क्षौद्रं दधि-घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः।
वेश्याश्चैव शुभाचाराः सर्वाभरणभूषिताः॥

(वाल्मीकि० अयो० का० १५ सर्ग ८ वां श्लोक)

इसमें वेश्याओं की गिनती मंगल सामग्री के साथ की गयी है और उन्हें 'शुभ आचरण वाली' लिखा है। नन्दिकेश्वर-कृत अभिनय-दर्पण में वेश्या को 'अभिनेत्री' लिखा है। यह ग्रन्थ मूल रूप में दुर्लभ है, पर इसका अंगरेजी अनुवाद मिलता है। उसमें लिखा है—

"वेश्या अति रूपवती, युवती, पीनकुचधरा, निर्भय, मनोहर, रुचिकरी, कठिन स्थलों को समझनेवाली, तालस्वर में परिपूर्ण, स्टेज पर जरा भी न घबराने वाली, हाथ और शरीर को सरलता

से इधर-उधर मरोड़ सकनेवाली, भाव बतानेमें प्रवीण, कमलनयनी, गीत-वाद्य का साथ दे सकनेवाली, नाना रत्नों से विभूषिता, न बहुत ठिगनी न लम्बी, न बहुत मोटी न दुबली होनी चाहिए।"

उसका लेखक बहिःप्राण और अन्तःप्राण वेश्याओं का वर्णन इस प्रकार करता है—

"मृदंग, झांझ, वंशी, गीतकार, श्रुतिकार, वीणा, घण्टा और प्रसिद्ध गवैया वेश्या के बहिः प्राण हैं। फुर्ती, शरीर को मरोड़ सकना, सुडौलपन, बात समझने की प्रतिभा, कटाक्ष, कठिन काम भी आसानी से कर गुजरना, बुद्धि, आत्मविश्वास, मधुर भाषण और गीत—ये १० अन्तःप्राण हैं।"

इस वर्णन से प्रकट है कि वेश्या शब्द से इस शास्त्रकार ने एक कलावती नारी का उल्लेख किया है।

एच० एच० विल्सन ने अपनी 'सेलेक्ट स्पेसीमेन्स आफ़ दी थियेटर आफ़ दी हिन्दूज' नामक पुस्तक में लिखा है—

"वेश्या से हमें ऐसी स्त्री न समझना चाहिए जिसने धार्मिक बन्धनों को तोड़ दिया हो। किन्तु ऐसी स्त्री समझना चाहिए, जो कि ऐसे असाधारण तौर पर पली हो, जिससे वह समाज में विवाहिता स्त्रियों की तरह प्रवेश न कर सकती हो, और जिसके लिए समाज का दरवाजा अपनी लज्जा का बलिदान करने पर खुलता हो, क्यों कि उसने पुरुषों का सहवास करने के लिए ऐसी मानसिक और व्यवहारिक शिक्षा पायी है जिससे साधारण स्त्रियाँ वंचित रहती हैं।"

एक और यूरोपियन विद्वान् का कथन है कि—

"प्राचीन काल में हिन्दू वेश्यायें यूनान की हेटेरा वेश्याओं के समान थीं। वे शिक्षिता और मन-बहलाव के काम में चतुर होने के कारण विवाहिता स्त्रियों से अधिक योग्य सहचरी होती थीं !—"

वेश्या शब्द का अर्थ होता है—'वेशेण जीवतीति वेश्या' जो वेश भूषा से जीवन चलाती हो अथवा 'वेशेभवा वेश्या' सर्वसाधारण के प्रवेश योग्य घरमें रहने वाली।

पुराणों में अप्सराओं का जो वर्णन है, वह अवश्य ही प्राचीन वेश्याओं का है। उर्वशी, रम्भा, मेनका आदि ऐसी अनेक अप्सराओं के उल्लेख मिलते हैं जिनकी पद-प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व बहुत उच्च था। उनसे बड़े-बड़े प्रतिष्ठित ऋषियों और राजाओं ने सन्तान उत्पन्न की थी, और वह सन्तान अत्यन्त प्रतिष्ठित मानी गयी थी। शिखण्डनी नामक एक अप्सरा ऋग्वेद के एक सूक्तकी ऋषि है। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में अप्सराओं के पांच जोड़ों का ज़िक्रहै, अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में भी कई अप्सराओं का ज़िक्र है। वाल्मीकि रामायण में देवी और गन्धर्वी नाम की दो प्रकार की अप्सरायें मानी गई हैं। अयोध्याकाण्ड सर्ग ९१ में लिखा है कि भरत जब रामचन्द्रजी को बनसे लौटाने गये थे, तो उनके आतिथ्य के लिए भारद्वाज मुनि ने अप्सराओं को भी लाया था, जो वहाँ नाची थीं। वे अप्सरायें कुबेर, ब्रह्मा, और इन्द्र ने भेजी थीं। ये अप्सरायें वास्तव में वेश्याएं थीं—यह स्कन्द-पुराणके व्यवहाराध्याय से पता लगता है। अमरकोश कहता है कि स्वर्ग की वेश्यायें अप्सरा कहलाती हैं (अप्सरातु स्वर्वेश्यास्यात्)

यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में एक यज्ञ का विधान बताया है - जहां 'नर्मायपुंश्चलूं' अर्थात् हास्य के लिए यज्ञस्थलमें वेश्या (पुंश्चली स्त्री) को रखे।

ऋग्वेदके दूसरे मण्डल के तीसरे सूक्तके छठे मन्त्रमें 'पेश:'शब्द आया है। म० म० पं० गौरीशङ्कर ओझा की सम्मति में यह 'पिशवाज' का मूल शब्द है। प्रसिद्ध अङ्गरेज विद्वान् आर्थर मैक-डॉनल्ड ने इस शब्द का अर्थ 'नाचने गानेवालियों की भड़कीली पोशाक' किया है। सायणने भी 'नृतूरिवनृत्यन्ती योपिदिव' अर्थ किया है, जिसमें नाचने वालियों की ध्वनि है। शुक्लयजुर्वेद के ३०वें अध्याय के नवें मन्त्र में 'निष्कृत्यै पेशस्कारीम्' पद आया है जिस का अर्थ ग्रिफिथ साहब ने ऐसी स्त्रियां बताई हैं जो प्रेम का जादू (Love charms) जानती हों। ऋषि दयानन्द ने इसका अर्थ शृङ्गार करने वाली व्यभिचारिणी स्त्री किया है। शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी और पुरुरवसकी विस्तृत कथा है। इसके सिवा शतपथ ब्राह्मण के ३-२-४-६ वेश्याओं के उल्लेख से भरे हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में (कांड २, प्रपाठक ४-११५) लिखा है 'हसाय पुंश्चलूं'। यहाँ सायण ने पुंश्चलूं का अर्थ स्वेच्छाचारिणी वेश्या लिखा है।

इसी प्रकार प्राचीन संस्कृत साहित्य और अर्वाचीन सभ्य संसार का साहित्य वश्याओं की चर्चा से भरा पड़ा है। रोम की साम्राज्ञी थ्योडोरा ने जो स्वयं पहले वेश्या थी वेश्या वृत्ति को रोकने के बड़े-बड़े निष्फल प्रयत्न किये थे। यूनानी लोगों ने भी वेश्याओं की वृत्ति को नष्ट करने के बहुत प्रयोग किये थे। प्राचीन

रोम ने बड़ी कड़ाई से वेश्यावृत्ति का मूलोच्छेद करना चाहा था। परन्तु कोई भी उपाय गत ५ हज़ार वर्षों में वेश्यावृत्ति को नष्ट करने में सुफल नहीं हुआ। १३वीं शताब्दियों में पोप इन्नोसेण्ट तथा ग्रेमी नवम ने वेश्याओं से विवाह करने और उन्हें समाज में मिलाने की चेष्टा कर देखी थी। फ्रान्स में वेश्याओं को ज़लील करनेकी चेष्टा की गयी। जर्मनी में भी कई क़ानून बनाये, पर कुछ भी परिणाम न हुआ।

अमेरिका में डा० पारखर्स्टने वेश्या वृत्ति के विरुद्ध बड़ा भारी आन्दोलन किया था। परन्तु वेश्यावृत्ति सर्वत्र वैसी ही बनी हुई है। कुछदिन पूर्व न्यूयार्क में वेश्या वृत्ति को रोकने के लिए एक कमेटी क़ायम की गयी थी। उस ने अपनी जो रिपोर्ट प्रकाशित की थी उसका सारांश यह है—

"ग़रीबों के रहने और शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध हो, स्त्रियों की मज़दूरी की दशा उन्नत की जाय, उन्हें आचार की शिक्षा दी जाय, छोटी आयु के बच्चों को बुराई के फन्दे से बचाया जाय, गर्मी आदि के रोगोंके उत्तम अस्पताल खोले जाएँ, समाज में वेश्यवृत्ति के प्रति तिरस्कार के भाव उत्पन्न किये जायँ, और वेश्यावृत्ति को जुर्म बनाकर उसके लिये कड़ी सज़ा दी जाय। इससे वेश्यावृत्ति में कमी आ सकती है।"

प्रायः आलसी और नीच जाति की स्त्रियाँ वेश्याएं बना करती हैं। उससे उनका पिण्ड परिश्रम और अपमान से छूट जाता है। ठाठ का जीवन भी प्राप्त होता है। ग़रीबी भी वेश्या-वृत्ति का प्रधान कारण है। विद्वान् शारविल का कथन है कि—

तेजी-मन्दी के साथ ही स्त्रियों का आचार घटता-बढ़ता है। जर्मनी की सरकारी रिपोर्ट के रजिस्टरों में लिखा है कि जिस वर्ष व्यापार की मन्दी रहती है, उस वर्ष रजिस्टर्ड वेश्याओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है। जापान की सरकारी रिपोर्ट का भी यही मत है।

इतिहास से पता चलता है कि हजरत मूसा ने बहुत जोर लगाया, पर वेश्यावृत्ति नष्ट नहीं हुई। यूनानियों ने तो वेश्या-वृत्ति को नवीन उसूलों पर जारी कर दिया था। बादशाह सोलन ने वेश्याओं के लिए नगरों से बाहर खास-खास वेश्या-भवन बनवा दिये थे और उन्हें खास पोशाक पहननी पड़ती थी। धार्मिक पूजा में भाग लेने की आज्ञा लेनी पड़ती थी, परन्तु ये सभी बन्धन आगे न चल सके। जब फ़ारिस ने यूनान पर विजय प्राप्त की, तो वेश्यावृत्ति को रोकने की बड़ी भारी चेष्टा की—सख्त क़ानून बनाये, वेश्याओं पर पुलिस तैनात की, वेश्याओं को छोटे-छोटे अपराधों पर कठोर दण्ड दिये गये। ज्यों-ही यह जोर जुल्म हुआ, गुप्त-वेश्याएं बढ़ गईं। यहां तक कि बड़े-बड़े घरों तक की स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति करने लगीं। अन्त में बन्धन ढीले पड़ गये। वेश्यावृत्ति के लिए लाइसेन्स दिये जाने लगे।

रोमन लोग प्रारम्भ में वेश्यावृत्ति को बहुत बुरा समझते थे, उन्होंने वेश्याओं के लिए अत्यन्त कठोर और अपमान-जनक क़ानून बनाये। उनसे नागरिकता के अधिकार छीन लिये गये। पर समय बदला और रोम वेश्यावृत्ति में योरोप भर से बाज़ी ले

गया। उसी वेश्यागमन में रोम का गौरव, राज-पाट और सब कुछ विलीन हो गया।

ईसाई मत में वेश्याओं से घृणा प्रदर्शित करने की जगह उन पर दया के लिये जोर डाला जाता रहा है। उन्हें वेश्यावृत्ति छुड़ाने, सुमार्गपर लाने का प्रयत्न किया गया है। उनसे विवाह तक किये गये हैं। पोप पवित्र ने वेश्याओं से विवाह कर लेने को शुभ बताया था। 'ग्रेगरी नवम'ने जर्मनके अधिकारियों को लिख दिया था 'कि किसी भी वेश्या को गिरजे में जाने से न रोका जाय, और जो पादरी वेश्याओं से अनुचित लाभ उठाते पकड़े जाँयँ, उन्हें दण्ड दिया जाय। कुमार लोगों को वेश्याओं से शादी करने को प्रोत्साहित किया जाय। १५ वीं शताब्दि के अन्त में लन्दन से वेश्याओं को बिलकुल निकाल दिया गया था। पर ५० ही वर्ष के भीतर फिर वेश्यालय खोल दिये गये, जिन्हें आठवें हेनरी ने फिर से बन्द कर दिया।

फ्रांस में वेश्याओं को एक खास प्रकार का बिल्ला पहनना पड़ता था। वे जवाहरात नहीं पहन सकती थीं। परन्तु सार्व-जनिक वेश्यालय खोल दिये गये थे। इनकी आमदनीको यूनिवर्सिटी और म्यूनिसपेलिटी बाँट लेती थी। नवें लुइस ने इन वेश्यालयों को बन्द करके, वेश्याओं को निकाल दिया। पर दो साल बाद-ही यह हुक्म रद कर दिया गया। १३ वीं शताब्दि में जर्मनी में अनगिनत वेश्यालय थे। उनमें पादरियों, विवाहितों और यहू-दियों को जाने की मनाही थी। ये वेश्यालय रविवार और अन्य पवित्र दिनों पर बन्द रहते थे। फ्रेडरिक ने इस सम्बन्ध में कई

क़ानून बनाये थे। यदि कोई वेश्या पर बलात्कार करता था तो उसे तुरन्त फाँसी मिलती थी। उन दिनों मेहमानों के आतिथ्य के लिए वेश्याओं को बुलाना सत्कार माना जाता था।

भारतवर्ष में भी वेश्या सम्बन्धी क़ानून थे! कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि जो वेश्या से बलात्कार करे, मारे, अङ्ग-भङ्ग करे, उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड दिये जांय। जो वेश्या फ़ीस लेकर सहवास से इनकार करे, किसी को मार डाले, अपनी आमदनी की सूचना गणिकाध्यक्ष को न दे, अपने ख़ास-ख़ास यारों का नाम न बताए, उन सबके लिए ख़ास-ख़ास दण्ड थे।

गणिकाध्यक्ष को राजनैतिक कार्यों के लिए प्रधान गणिका और उसकी दो सहायकाएँ सरकारी वेतन पर नौकर रखनी पड़ती थीं।

योरोप में कुछ ऐसी स्त्रियाँ हैं जो दिन में कारख़ानों में काम करके पैदा करती हैं और रात को गलियों में वेश्यावृत्ति से आय कर लेती हैं। ऐसा एक उदाहरण सुनिये जो हैवलाक एलिस ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है:—

"तीस वर्ष की विधवा। उसके साथ दो बच्चे। लण्डन के पूर्वी छोर पर छतरियों के कारख़ाने में काम करती है। १८ शि० प्रति सप्ताह वेतन मिलता है। सायङ्काल को वह गलियों में अपनी आय बढ़ाने चली जाती है। उधर से नगर की रेल के टर्मिनस (छोर) को एक मार्ग जाता है। वह एक सुखी स्त्री दीखती है। पूछने पर वह कह देती है कि मैं एक सहेली की प्रतीक्षा में खड़ी हूँ। वह बनावटी ढङ्ग से ऋतु के सम्बन्ध में बात-

करती है और आनुषङ्गिक रीति से अपना निवेदन कहती है। कभी तो पुरुष को पड़ौस के किसी नीरव कूचे में ले जाती है या अपने घर। पुरुष जो कुछ उसे दे, ले लेती है। कभी कभी तो यह एक पौण्ड होता है, कभी ६ पैंस। औसतन वह कुछ शिलिंग प्रति दिन कमाती है। वह केवल दस मास से लण्डन में आई है। इसके पहले वह न्यूकासल में रहती थी। वह यद्यपि पुलिस को अच्छा नहीं कहती, पर वह कहती है—दूसरी लड़कियों की तरह वे उसके काम में हस्तक्षेप नहीं करते। वह उन्हें कभी रिश्वत नहीं देती। परन्तु वह संकेत से कहती है कि उनको अनुकूल बनाये रखने के लिए कभी कभी उनकी काम वासना को तृप्त करना आवश्यक होता है।"

वेश्याओं की अधिक संख्या बहुधा छोटी अवस्था में ही—जब अभी कामवासना के प्रबल होने के दिन भी नहीं होते हैं—आचारहीन हो चुकी होती हैं! फ्रांस के एक डाक्टर ने उनके दुर्गुण इस प्रकार गिनाये हैं:—

१–लोभ, २–मदिरापन, ३–झूठ, ४–क्रोध, ५–व्यवस्था का अभाव, ६–चरित्र की चञ्चलता, ७–गति का अभाव। दूसरी वेश्या के साथ प्रवृत्ति। उनमें गुण भी होते हैं—१–ममता, २–भूतानुकम्पा, ३–परस्पर सहानुभूति। कभी-कभी वे धार्मिक, विनयी और ईमानदार भी होती हैं।

वेश्यावृत्ति पर गम्भीर विचार करते हुए हैवलाक एलिस लिखते हैं:—

"वेश्या रोटी या मांस की भाँति बाजार में बिकने वाली

चीज़ नहीं है। न उसकी अवस्था भिन्न-भिन्न कलाओं से जीविका चलाने वाले मनुष्यों के ही समान है। ऐसे मनुष्य काम के बदले फ़ीस लेते हैं। फ़ीस की रक़म उनकी कला दक्षता पर या काम लेने वालों की योग्यता पर निर्भर है। वेश्यावृत्ति उस घनिष्ठ-सम्बन्ध को, जो जो स्वाभाविक प्रेमके आधार पर होना चाहिये था बुराई की नींव पर स्थापित करती है। इस प्रकार उस घनिष्ठ-सम्बन्ध को नीच बना देती है। पर यथार्थ में देखा जाय तो बेची कुछ भी चीज़ नहीं जाती। वेश्या अपने शरीर को बेचती हैं—ऐसा कहना आलङ्कारिक दृष्टि से भी असम्य है।

वेश्या वृत्ति का ठहराव (कन्ट्रेक्ट) किसी वस्तु के मूल्य के ठहराव के समान नहीं। सिविल क़ानून में ऐसा कोई ठहराव ही नहीं जो वेश्यावृत्ति के समकक्ष हो। वेश्यावृत्ति में कुछ ऐसी बात आजाती है जो इस ठहराव को प्रतिदान बना देतो है। उसका प्रतिकार किसी भी सूल्य से नहीं हा सकता। स्त्री का शरीर अमूल्य होता है—कामवासना पूर्ति करने को यदि किसी स्त्री को कुछ धन दिया जाता है तो वह वेश्यावृत्ति के कर्म की फ़ीस नहीं प्रत्युत एक भेंट है जिसके द्वारा कि सौन्दर्य की पुजारिन वह स्त्री अपना निर्वाह करती है।"

प्राचीन ग्रन्थकार वेश्याओं के द्वारा बुद्धि की वृद्धि होती है, ऐसा मानते थे। शुक्रनीति में लिखा है—

देशाटनं राजसभा वेशनम् शास्त्रचिन्तनम्।
वेश्यादिदर्शनम् विद्वन्मैत्री: कुर्यादतन्द्रितः॥

कालीदास ने भी:—

देशाटनं पण्डित मित्रता च वारांगना राजसभा प्रवेशः।

इस श्लोक में वेश्याओं से चतुराई सीखने की सलाह दी है।

अद्राथफेल्थ अपनी पुस्तक—'Women in India' में लिखते हैं—

"वेश्याओं की, जो अपना समय 'स्वाधीनता' शोभा, सुघराई, और चतुराई से बिता रही हों—अधोगति करना, उन्हें जाति बहिष्कृत करना, और उन्हें लज्जास्पद कुमार्ग पर जाने को विवश करना, केवल दान (Charity) के विरुद्ध पाप करना ही नहीं, प्रत्युत जीवन के प्रति भी भारी भूल करना है।

यही लेखक आगे लिखता है—

"यह अत्यन्त खेद की बात है कि प्रारब्ध की विपरीतता से नृत्य जो भारतवर्ष की एक मात्र बची हुई कला है, तर्क के विचित्र उलट फेर से, उन भारतीय लेखकों के, जो कि शिक्षित और सुधारक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं, आक्रमण का विशेष लक्ष्य बन रहा है। सुधारकों ने यह सब कुछ आचार के नाम पर करना उचित समझा है, इस लिये नहीं कि वे गीतों और नाचों को आचार हीन बताते हैं, किन्तु इसलिये कि गीत गाने वालियां और नृत्य करने वालियां आचार हीन हैं। 'नृत्य' पर चाहे भी जिस दृष्टि से विचार किया जाय, उसे आचार हीन बताना असम्भव है। हम कह सकते हैं कि भारतीय वेश्याओं के ये गीत अंग्रेजी 'कॉमिक आपेरा' के गीतों से अधिक पवित्र होते हैं। इनका नाच शोभा-युक्त, विनीत और सावधानता से नियन्त्रित होता है।"

हैवेलाक एलिस अमेरिका के विद्वान् लेखक लिखते हैं—

"वेश्या सार्वजनिक सदाचार की दुराचारिणी संरक्षिका है, या वेश्या एक सामाजिक उद्देश्य को पूरा करती हैं। वे कुमारियों के विनय की संरक्षिका हैं, कामवासनाओं को बाहर निकालने की नाली और परिवार की रक्षक हैं।"

प्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार बालजक लिखते हैं—

"वेश्याएं प्रजातन्त्र के लिये अपने आपका बलिदान देती हैं और प्रतिष्ठित घरोंकी रक्षा के लिये अपना शरीर दीवार रूप बना देती हैं"।

शोपनहार प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक तत्ववेत्ता कहता है—

"वेश्याऐं एकपत्नीव्रत की वेदी पर मानवीय बलिदान हैं'।"

सैन्ट अगस्टाइनका मत है—

"जिस प्रकार जल्लाद, चाहे वह कैसा ही घृणित क्यों न हो, पर समाज का आवश्यक अङ्ग है, उसी प्रकार वेश्याऐं भी हैं। आप वेश्याओं को समाज से हटा दीजिए और आप सारे संसार को विषयवासना से भ्रष्ट हुआ पावेंगे।"

डा० एफ़० अर्हर्ड लिखते हैं:—"वेश्यावृत्ति इस लिये भी आवश्यक है कि नवयुवक किसी अंश तक स्त्रियों को समझ सकें; यद्यपि यह सत्य है कि केवल बातों से यह शिक्षा नहीं प्राप्त हो सकती। स्त्रियों के मानसिक भाव और उनकी चालों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है ताकि युवक अपने लिये पत्नी चुनने के समय सब बात समझ सकें।"

हाफ़िज़ फ़ार्सी के प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। उनके समकालीन किसी बादशाह ने तमाम वेश्याओं को बस्ती से निकल जाने का

हुक्म दे दिया था। एक वेश्या हाफ़िज़ साहब की मित्र थी। वह उनके पास जाकर बोली—अब हमें शहर बाहर होने से बचाइये। हाफ़िज़ ने एक शेर लिख कर उसे दिया और कहा—इसे बादशाह के पास पहुंचा दो। बादशाह ने उस शेर को पढ़ कर अपनी आज्ञा वापस लेली। वह शेर यह था।

दर कूचए नेकनामी मारा गुज़र ना दादन्द।
गर तो न में पसन्दद तग़य्यीर कुन क़ज़ारा॥

अर्थात्—बादशाह, ख़ुदा ने हमारी गुज़र नेकनामी के कूंचे से नहीं होने दी। यह यदि तुझे पसन्द नहीं, तो हमारी क़िस्मत बदल दे।

कुछ दिन पूर्व मद्रास में एक वेश्या विरोधनी संस्था स्थापित हुई थी। एक बार इस सभाके सदस्यों ने गवर्नर मद्रास और वाय-सराय को इस आशय का एक मेमोरियल भेजा था—

"भारत में नाचने वाली स्त्रियों का एक समुदाय है जो प्रायः वेश्याएं होती हैं। शुभ अवसरों पर ये बुलायी जाती हैं और इससे सार्वजनिक चरित्र की हानि होती है। इसके विरुद्ध देश में आन्दोलन उठ रहा है। प्रार्थियों ने नाच में सम्मिलित होने को निषिद्ध ठहराया है।

"हमें आशा है, आप कुरीतियों को दूर करने में हमें सहायता प्रदान करेंगे। इस लिए हम प्रार्थना करते हैं कि ऐसे जल्सों में, जिनमें वेश्या नृत्य भी प्रोग्राम में हो शरीक होने से इन्कारकरदें।"

इसके उत्तर में वायसराय महोदय के प्राइवेट सेक्रेटरी ने जो मज़ेदार जवाब दिया था वह इस प्रकार है—

"महाशयगण,

"आपके अनुरोध पत्र के उत्तर में मुझे श्रीमान् वाइसराय महोदय ने यह उत्तर देने की आज्ञा दी है कि वे आपके इस उद्योगको प्रशंसाकी दृष्टिसे देखते हैं। पर वाइसराय महोदय आप की प्रस्तावित घोषणा स्वीकार नहीं कर सकते। अपने भ्रमणमें उन्हें ऐसे नाचों में सम्मिलित होना पड़ता है। श्रीमानों की दृष्टि में उस में कोई ऐसी बात नज़र नहीं आई जो सर्वसाधारण के चरित्र पर बुरा प्रभाव डाल सके। इस कारण श्रीमान् वाइसराय आपकी इस प्रार्थना को स्वीकार करने में असमर्थ है।"

वेश्याओं की रजिस्ट्री कर के लाइसेन्स देने की रीति सर्व-प्रथम अमेरिका के सेण्ट लुइस नगर में प्रारम्भ हुई। परन्तु चार साल निरन्तर चेष्टा करने पर भी वह सफल न हुई।

न्यूयार्क में डॉ० पारखस्ट के आन्दोलन के कारण सैकड़ों वेश्याओं को उनके घर से निकाल दिया गया था और सब वेश्या-लय बन्द कर दिये गये थे। पर, इसका कुछ भी परिणाम नहीं हुआ। गुप्त वेश्याएं बढ़ गईं। फ्रांस के बादशाह ने भी वेश्या-भवनों को उजाड़ दिया परन्तु, वेश्यावृत्ति का नाश नहीं हुआ।

इटली में सन् १८८६ में नगर से हटकर एकान्त में वेश्याओं के महल्ले बसाए गये और पुलिस के पहरे आदि तैनात कर दिये गये। कुछ ही समय में यह स्थान भयङ्कर बदमाशियों का अड्डा और बड़ी बड़ी संगीन वारदातों का केन्द्र बन गया।

इस प्रकार यह दुर्धर्ष, जटिल अस्तित्व संसार की गर्दन पर सवार है।

हचिनसन, जिसे लण्डन, पैरिस, वीयाना, न्यूयार्क, फिलाडेलफिया, और शिकागो की वेश्याओं का बड़ा अनुभव है, कहता है कि रूपवती और चित्ताकर्षक आकृति वाली वेश्या बहुत विरली पाई जाती हैं। औसतन जितना सौन्दर्य दूसरी स्त्रियों में पाया जाता है, वेश्याओं में प्रायः उससे कम होता है। रूस में एक स्त्री डाक्टर ने ५९ वेश्याओं के शरीर की जांच करके यह परिणाम निकाला है—

१—वेश्याओं में कपाल के अगले पिछले और आड़े व्यास छोटे होते हैं।

इसका कारण यह पाया गया कि उनमेंसे अस्सी प्रतिशत के माता पिता शराबी थे। 'बीस प्रतिशत बड़े बड़े परिवारों की एक मात्र बची हुई सन्तानें थीं। ये प्रायः पतित माता पिता की सन्तान थे। इटली में एक डाक्टर ने ६० वेश्याओं की परीक्षा करके यह परिणाम निकाला है कि एक वेश्या और एक साधारण स्त्री यदि एकसी ऊँचाई की हों तो वेश्या का वज़न अधिक होगा। समान आयु में दूसरी स्त्री से उसका क़द छोटा होगा। मुख मण्डल की ऊँचाई, ठोडी से कान तक की व्यास और जबड़ों का आकार, ये सब चीज़ें वेश्या की बड़ी होंगी। वेश्याओं के हाथ साधारण स्त्रियों की अपेक्षा हथेली की तुलना में लम्बे और चौड़े होंगे। पैर भी लम्बा होगा और पिंडली की तुलना में जंघा बड़ी होगी।

हाल ही में फ़िल्मों के आविष्कार ने वेश्याओं की प्रतिष्ठा और उनकी हैसियत को बहुत बढ़ा दिया है। आज ५०००) रु० मासिक फ़िल्मों में काम करने वाली वेश्याएं पा रही हैं, इसके

सिवा वे अब 'मिस' बन गई हैं। उनके रहन-सहन गम्भीर और प्रतिष्ठित बन गये हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि उनकी कला का इससे विकास होगा। परन्तु प्रश्न तो वेश्यापन नष्ट कर देने का है। मैं कहता हूं कि किसी भी स्त्री का अपने सौन्दर्य प्रदर्शन की वृत्ति करना भी शरीर को बेचने के ही समान गर्हित है। मेरी सम्मति में स्त्रीत्व का बलिदान पुरुषत्व को ही होना चाहिये। जन साधारण को नहीं। वेश्याओं का भारी भारी तनख्वाहें लेकर शाही ठाठ से रहना भी समाज में एक भयानक परिस्थिति पैदा करने वाली बात है।

मेरे पास सीधा और सच्चा उत्तर यही है कि प्रत्येक युवक यह चेष्टा करे कि वह वेश्या से विवाह करे। उसे वह सम्मान और साहस प्रदान करे जो वह लाखों रुपये मासिक कमाने पर भी नहीं प्राप्त कर सकती। मैं चाहता हूँ कि देश में कोई ऐसी स्त्री न बचे जिसका पति उसके साथ न हो। और न कोई ऐसा पुरुष ही बचे कि जिसको स्त्री न हो। बिना स्त्री के पुरुष का और बिना पुरुष के स्त्री का जीवित रहना भयानक है। अत्यन्त दृढ़ता से इस स्थिति को दूर करने का उद्योग करना चाहिये। ख़ासकर वेश्या जैसी वस्तु जो सिर्फ़ अनाचार की प्रतीक्षा करती बैठी रहती है, समाज के लिये भारी समस्या की वस्तु है। समाज उन्हें घृणा या उनका बहिष्कार नहीं कर सकता। समाज को उन्हें अपने अन्दर दाखिल करना ही चाहिये।

इस कठिन प्रश्न पर हमें सिर्फ़ इतना ही कहना है कि हर सूरत में वे किसी पिता की पुत्री तो अवश्य हैं ही; अवश्य उन्होंने

किसी माता की छाती से लिपट कर स्नेह दुग्ध पान किया है। वे अवश्य ही किसी की बहन, बेटी, भतीजी हैं ही। क्या हम समाज सङ्गठन के नाम पर इन पतित अभागिनी अबला नारियों को अपनी मां-बहिन और सगी सम्बन्धी समझ कर इस पाप-पङ्क से नहीं उबार सकते ?

जो लोग गुप्तरूप से वेश्यागमन करते हैं वे क्या साहस पूर्वक वेद, अग्नि और ईश्वर की साक्षी देकर उन्हें अपनी धर्मपत्नी नहीं बना सकते ? उन्हें शिक्षा नहीं दे सकते ? क्या ऐसे पुराने वेश्यागामी नहीं निकल सकते जिन्होंने सारी उम्र इसी धन्धे में व्यतीत की हो ? अब वे अपनी मित्र वेश्या को कुटनीपने के काम से रोकें और पवित्र जीवन व्यतीत करने की सलाह दें।

(१६)

व्यापार का नाश करो

आज प्रत्येक व्यापारी देश का शत्रु है । देश के स्वार्थ में और उस के स्वार्थ में जमीन आसमान का अन्तर है।

प्रजा की गरीबी छिपी नहीं है। ऐसे लोगों की गिनती नहीं हो सकती जिन्हें पेट भरना तो एक ओर रहा, आधार के लिये मुट्ठी भर अन्न भी मिल सके। सर्दी के दिनों में ये लोग पेट में घुटना लगा कर और आग के चारों ओर बैठ कर रात काट देते हैं। ऐसा मैंने स्वयं देखा । उन में कितने लोग न्युमोनिया के शिकार होते हैं, जिन के पुट्ठों और फेफड़ों को सर्दी मार जाती है। मैं अपने वैद्यकीय अनुभव से कह सकता हूँ कि जिन के पास काफ़ी रुई और वस्त्र न थे वे उस भयंकर इन्फ्लुएन्ज़ा महामारी के चंगुल में फंस गये और चूहों की भाँति मर गये।

देश का प्रत्येक निवासी चाहता है कि उसके नित्य के इस्तेमाल की चीजें सस्ती हों; खाद्य सामग्री, कपड़े, और दूसरी चीजें भी। परन्तु ये भेड़िये व्यापारी सदैव वही महंगाई बनाये रखने की चेष्टा करते रहते हैं। ज्योंही कोई चीज़ सस्ती हुई कि इनकी नानी मरी। महंगी में ये लोग फूल कर कुप्पा हो जाते हैं, पर सस्ती में मानो इनके घरके सब मर गये हों। ऐसी हालत में क्यों न इन्हें देश का शत्रु समझा जाय ?

इन देश शत्रुओं में सब से ज्यादा भयानक शत्रु मारवाड़ी समाज है। यह समाज देश के अरबों रुपयों को देश से लूट लूट कर विदेश भेज रहा है। प्रत्येक मारवाड़ी लखपती उसी समय लखपती बना है जब कि उसने किसी विदेशी फ़र्म को करोड़पति बना दिया है। ये लोग उद्योग धन्धों में बहुत कम रुपया फँसाते हैं। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध मातृभूमि को त्याग दिया है।

कुछ लोगों ने मिलें स्थापित की हैं जिनकी मशीनरी खरीदने में करोड़ों रुपया विदेश को भेजा गया है। वहां ये अन्य स्वार्थी पूंजीपतियों की भांति ग़रीब अभागे स्त्री पुरुषों से पशुओं की भांति कड़ी मेहनत लेते हैं। इन मिलों में लाखों ग़रीबों के चरित्र और स्वास्थ्य नष्ट होते हैं। ये लोग उन्हें मजदूरी दे कर बाक़ी समस्त रुपया अपने बाप की चीज़ समझते हैं। कुछ लोग अपने को धर्मात्मा या देश सेवक समझते हैं तो उसी गुनाह की कमाई का कुछ भाग दान कर देते हैं। और उनकी दानवीरता के डंके कमीने अख़बार वाले ज़ोर शोर से पीट देते हैं।

मैं कहता हूँ कि इतना ज्यादा रुपया कमाने वाला आदमी राक्षस है, बेईमान है। वह समस्त रुपया उन मजदूरों का है और उन्हीं को सब रुपया बांट देना चाहिए। सात सौ वर्षों तक मुसल्मानों की दुर्धर्ष खूनी तलवार के सन्मुख खड़ा रहने वाला उद्ग्रीव मारवाड़ आज सो रहा है, हल्दी घाटी में जब सांय सांय हवा चलती है और वे पुराने वृक्ष जब डालियां झुका झुका कर उन वीर आत्माओं को, जो सदा के लिए वहाँ विश्राम कर रही हैं, प्रणाम करते हैं, तब देखने वाले के मन में एक भय का, एक वेदना का उदय होता

होगा। पर वह तड़प, जो मारवाड़ की बपौती थी, कहीं भी देखने को नहीं मिलती।

वे मृत्यु के व्यवसाई, जीवित नरसिंह जिन्होंने जीवन के तत्त्व को समझा था, जो प्रकृत आत्मतत्त्व के ज्ञाता थे, जो मरने से कभी न मरे, वृद्ध होने पर कभी न पुराने हुये, जो हास्य और क्रोध के अधिष्ठाता थे, दैन्य और रुदन जिनके पास न था, आज वे मारवाड़ के धनीधोरी कहां हैं ?

मारवाड़ के इस सिरे से उस सिरे तक चले जाइए—नगरोंमें, गांवोंमें, जँगलों में, वनस्थलों में, खेतों में, चाहे जहाँ देखिए—मारवाड़ सो रहा है। सारी पृथ्वी के राष्ट्र जाग रहे हैं। मारवाड़ सो रहा है। पृथ्वी की जातियां आत्मशासन के स्वत्व पर जूझने की तैयारियाँ कररही हैं, परन्तु मारवाड़ सोरहा है। हाय रे यह नींद!!!

मारवाड़ के गांव उजाड़ पड़े हैं। वहाँ भूखे, नंगे, फटे चिथड़े पहने हुए वीरों के वंशधर अपनी धूल भरी डाढ़ी को अपने अस्थि चर्मावशिष्ट शरीर पर सजाये जी रहे हैं। इनकी तलवारों को म्यान आज नसीब नहीं, वे गूदड़ों में लिपटी जंग खा रही हैं। वे बच्चे जो अमर कारनामे कर गये थे, मारवाड़ की गलियों में नंगे, भूखे, दीन हीन झुंड के झुंड फिर रहे हैं। इनका कोई नाथ नहीं, कोई धुरी नहीं, कोई रक्षक नहीं। स्त्रियां ऐसी सुन्दरी, स्वस्थ, मृदुभाषिणी, परिश्रमी, गृहलक्ष्मी के सभी गुणों से परिपूर्ण, पतिप्राणा, प्रेममूर्ति अविद्या और कुसंस्कारों में जकड़ी हुई, गन्दे, भारी घाघरों में फंसी हुई उसी तरह जीवन काट रही हैं जिस तरह किसी किसान की भैंस, जिसे दूध के

लोभ से खूब दाना चारा दिया जाता है और जो धुंआधार खा पी कर बैठी बैठी जुगाली किया करती है। लोग कहते हैं कि इनकी माताओं और दादियों ने जौहरव्रत किये थे। प्रत्येक गांव के बाहर सतियों के मठ दीख पड़ते है। क्या सचमुच मारवाड़ के घरों में सिंहनियाँ दहाड़ा करती थीं? वे नाहर जो उन्होंने पैदा किये थे क्या उनका सर्वथा ही बीज नाश होगया?

मारवाड़ भारत की भुजा थी। मारवाड़ के हाथ भारत की नैया के डांड थे। हिन्दुत्व मारवाड़ के हाथ जीवित रहा। प्रतापी मुग़ल साम्राज्य ध्वन्स होगया, मारवाड़ के राजमुकुट अब भी दिप रहे हैं। पर उस अतीत विभूति के वल पर क्या यह सदा रह सकता है? वर्तमान और भविष्य की संजीवनी जिस देश में नहीं, वह अतीत को लेकर रो सकता है, हँस नहीं सकता।

परन्तु जातियों का यह रुदन ही क्या जातियों के जीवन की चरम सीमा है? नहीं, नहीं, जातियाँ चाहे रोयें चाहे मरें, पर उद्देश्य तो यही है कि हँसें और जिएं। मुग़लों ने मारवाड़ को हंसने और जीने नहीं दिया। पर मारवाड़ तो जी गया—हंसने में अलवत्ता सन्देह है। क्या मारवाड़ सोते-सोते हँसेगा? छी!!

मारवाड़ ने जो अमर ख्याति अपने भुजवल से मुग़ल साम्राज्य में पैदा की थी—लगभग वही ख्याति उसने धन वल से ब्रिटिश साम्राज्य में पैदा की है। इसमें सन्देह नहीं कि वह तलवारों का राज्य था—तलवारों से मुक़ाबिला किया गया, यह वनियायी राज्य है, वनियायी से ही मुक़ाबिला किया जा रहा है। यह सब तो ठीक है, पर उस जीवन में समस्त मारवाड़

के प्राण एकत्र थे और इस जीवन में वे. छिन्न-भिन्न हैं। यही तो एक भयानक भेद है। मारवाड़ वीरप्रसू है। वह नैसर्गिक युद्ध-भूमि है, मारवाड़ को उसी प्राँगण में अपने जीवन मृत्यु की समस्याएँ हल करनी पड़ी थीं। परन्तु इस धनके युगमें मारवाड़ की भूमि नैसर्गिक सहायक नहीं। फलतः मारवाड़ को धन के केन्द्रों में बिखरना पड़ा। लोग धनकुबेर बन गये—पर इने गिने। उससे मारवाड़ की श्रीवृद्धि नहीं हुई। बम्बई, कलकत्ते में मारवाड़ियों के राजप्रासाद बने खड़े है, परन्तु उनका गाँव उजाड़ पड़ा है, वे करोड़ों रुपयों के व्यापार से मैनचेस्टर, लंकाशायर, चीन, जापान शंघाई के जनसाधारण का पेट पाल रहे हैं। पर उनके गाँव के आस-पास के दरिद्र भूखे मर रहे हैं, बच्चों को बेच रहे हैं। क्या इस बात पर कभी बम्बई, कलकत्ते के धनपतियों ने विचार किया है कि जब वृष्टि नहीं होती तब मारवाड़ की लाखों गायें विष्ठा खा कर पेट भरती हैं? समस्त मारवाड़ में गाय, भैंस, बैल हीन नस्ल के हो रहे हैं। उन्हें अकाल, सुकाल कभी उत्तम तथा भरपेट चारा नहीं मिलता। बड़े बड़े नगरों के पिंजरापोलों में क्या ख़ाक है? तीर्थों में धर्मशालायें क्या करती हैं? मारवाड़ के लाखों मनुष्य अनावृष्टि होते ही बच्चों को बेचते हुए मरते-गिरते समस्त उत्तर भारत में पेटकी आग बुझाने फिरते हैं। यदि मोटरों में लदने वाले श्रीमन्त इन्हें अपना भाई न समझें, इनकी भूख से कष्ट न पायें, इनके दुःख को न देखें तो वे देशभक्त कैसे? उनके जीवन से लाभ क्या? क्या प्रातःकाल उठ कर जल्दी जल्दी दो लोटे सिर पर डाल लेना, फिर आँखें मूंदकर थोड़ी देर बैठ जाना, कभी-कभी एकाध ब्राह्मण

को जिमा देना ही धर्म है ? इन बेहोश और राष्ट्र भावना से रहित लोगों से कौन कहे ?

एक वे राजा लोग थे जो उस काल में मारवाड़ के धनी थे, जिन्होंने मारवाड़ की स्वाधीनता और हिन्दुत्व की रक्षा तथा स्त्रियों की मर्यादा के लिये जानें दीं। जवान बेटों को आँखों देखते लोहे की मार में मरवाया, पुत्रियों और पत्नियों को जिन्दा आग में जलवा दिया, और अन्त में स्वयं भी घाव खा कर अमर हुए; जिन्होंने धन, जन, मान, प्राण, पुत्र, पुत्री सब कुछ मारवाड़ पर न्योछावर कर दिया। उनके मुक़ाबिले में ये श्रीमन्त सेठ लोग हैं जिन्होंने अपने लिए बड़े बड़े नगरों में महल, बंगले, मोटर और सभी ऐश्वर्य एकत्र किये हैं, पर जिनके सामने मारवाड़ भूखा, नंगा, अनाथ, हाय पेट, हाय पेट कह कर रो रहा है—कहाँ तक आदर प्रतिष्ठा के पात्र हो सकते हैं, क्या इस पर मारवाड़ के सपूत विचार करेंगे ?

मारवाड़ में बहुत सी सोने, चांदी, तांबे, अभ्रक, कोयले आदि की खानें गुप्त पड़ी हैं। कृषि की उन्नति का बड़ा भारी मैदान है। पशु वृद्धि का बड़ा सुयोग है। पंजाब और यू० पी० का गुड़, गेहूँ, रूई, तेलहन से माल तैयार करने को बड़े बड़े कारखाने स्थापित करने के पूरे सुभीते हैं। मारवाड़ के धन कुबेरों के पास रुपयों का भी अभाव नहीं। उनका करोड़ों रुपया सट्टे की जोखिम में लग रहा है, करोड़ों रुपया विदेशी व्यापार में फंसा पड़ा है, जिसमें उन्हें सिर्फ़ दलाली मिलती है। ये प्रतिष्ठित मारवाड़ी लखपती विदेशी फर्मों के 'दलाल' कहलाने में जरा भी लज्जित नहीं होते, पर यदि

इनके मन में ग़ैरत पैदा होजाय तो ये लोग खुद ही मालिक वन सकते हैं। मारवाड़ में सैकड़ों छोटे छोटे कल कारख़ाने खड़े हो सकते हैं। कोयले की खानें, तेल की खानें, धातु उपधातु आदि अरबों रुपयों की सम्पत्ति निकलने लगे। बुनाई, कताई, तेल पेलना, तेल की वस्तु बनाना, इत्र आदि तथा शक्कर के अनगिनत कारख़ाने खुल सकते हैं, जिनमें मारवाड़ के धनी धन से, और ग़रीब शरीर से जुट जायँ। सबको भरपेट रोटी मिले। नगर गाँव चमक उठें। लक्ष्मी का मेह बरसने लगे। अष्ट सिद्धि तथा नव-निधि प्राप्त हो। हम कह सकते हैं कि ऐसे कठिन परिश्रमी और मितव्ययी आदमी पृथ्वी भर में शायद ही कहीं मिल सकें जैसे कि मारवाड़ में हैं। ये बेचारे समस्त उत्तर भारत में स्त्री बच्चों सहित कड़ी धूप में कुदाल चला कर पेट भरते हैं।

मैं पूछता हूँ कि क्या मारवाड़ पड़ा सोता रहेगा? धन रहते भूखों मरेगा? तब तो यही कहना पड़ेगा 'पानी में भी मीन प्यासी—सुनकर किसे न आवे हाँसी'। यह निश्चय है कि मारवाड़ी सेठ लोग चाहे दस दस मोटरों पर लदें, चाहे बम्बई कलकत्ते में चांदी की ईंटों से मकान चिनावें, चाहे हीरे खाँय और पन्ना हगें—वे तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकते जब तक मारवाड़ की पृथ्वी में वे जीवन, नवीनता, उत्साह और जवानी की तरंगें न पैदा कर देंगे।

वे राजपूत मारवाड़ के पति थे, ये वणिक् मारवाड़ के पुत्र हैं। पतियों के राज्य में मारवाड़ की भूमि सुहागिन की तरह रही, उन्होंने ज़ीते जी उस भूमि का विछोह न सहा। वहीं मरे, वहीं

जिए, वहीं हीरा, मोती, पन्नासे शृङ्गार किया, और आवश्यकता होने पर वहीं हीरों पन्नोंसे सजा उनका मुण्ड धड़ से पृथक् होकर धूल में लोट गया। मारवाड़ आज उन्हीं की बदौलत पृथ्वी के महारथियों के लिये श्रद्धा की वस्तु हो गया है। आज योरोप और अमेरिका का यात्री चित्तौर के किले का ध्वंस देख कर क्षण भर बंधा खड़ा रह कर एक सांस छोड़ता है। कुम्भा जी के कीर्ति स्तम्भ के सामने आदर से झुकता है। वे क्षत्रिय थे, उन्होंने किले दुर्ग बनाये, जहां मारवाड़ के जीवन को रक्षा होती थी। आज बणिक् मारवाड़ के पुत्र हैं, उन्हें विधवा मातृभूमि को इस प्रकार न भूल जाना चाहिये, उन्हें लक्ष्मी की सच्ची पूजा मारवाड़ में अपने घर पर बैठ कर करनी चाहिये।

मारवाड़ी लोगों से उतर कर गुजराती लोग और इसके बाद अन्य लोग इस व्यापार के राक्षसी धन्धे को करते हैं जिस में वे हज़ारों मनुष्यों के भाग्य विधाता और करोड़ों रुपयों के स्वामी बन जाते हैं। मैं इस ढंग के व्यापारियों से घृणा करता हूँ। ये कभी देश को नहीं पनपने देंगे। ये कभी ग़रीबों को मनुष्य नहीं बनने देंगे, मेरा कहना यह है कि सारे पाप, अशान्ति, बेईमानी, महामारी, और लोहू और लोहे की जड़ यह कुत्सित व्यापार है। यह अनावश्यक महकमा है। यह शिल्प और कृपि के पेट में ताप तिल्ली की बीमारी है। यह मजदूरों की छाती का क्षय रोग है। यह जितनी जल्द मिटे उतना ही अच्छा है। हमें इस प्रकार के व्यापार की हत्या के लिये तीव्र से तीव्र विष तैयार करने में पूरी शक्ति खर्च कर देनी चाहिये।

मैं इन व्यापारियों को जो अपने को दलाल समझते हैं—जुआचोर कहना चाहता हूं। वे या तो विलायत और जापान का माल यहां बेच कर कौड़ियां कमाते हैं, या इधर का उधर करके दलाली के पैसे वसूल करते हैं। न उन में कुछ स्वावलम्बन है न बल। उनकी भित्ती बालू के ऊपर है और वह बहुत ही कच्ची है।

मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यापारी अपने बड़े बड़े व्यापारों से हाथ खींच ले। वह बड़े बड़े शहरों के निवास को भी त्याग दे। वह चुपचाप अपने देहात में जाकर बैठे और ऐसा काम करे जिस में उसके गाँव के स्त्री पुरुष और जमीन का अधिक से अधिक उपयोग हो। कारीगरों को स्वच्छन्द होना चाहिए। वे छोटे बड़े उद्योग धन्धे शुरु करें और जनता उन्हीं से अपनी आवश्यकता की पूर्ति करे। इससे मैं यह आशा करता हूं कि उनकी हालतें सुधर जावेंगी। वे स्वतन्त्र होंगे और तब उनकी पूरी कमाई उन्हीं को मिलेगी। मालिक शरीक न होगा। धनी लोगों को निःस्वार्थ भाव से उन्हें सहायता देना चाहिए।

व्यापार की सीमा सिर्फ वहीं तक रहनी चाहिए जहां तक कि विनिमय और स्थानान्तरित का सम्बन्ध है। वे वस्तुओं को बदल सकें और यहाँ से वहाँ भेज सकें जिस से कारीगरों और किसानों का समय बचे, दिक्कत भी कम हो।

---

(१७)

हरामख़ोरों को नष्ट कर दो

सब से पहिले हरामखोर वे हैं जो सिर्फ़ सूद की घिनौनी कमाई खाते हैं। दूसरे हरामख़ोर वे हैं जो कहाते तो व्यापारी हैं पर या तो दलाल हैं, या जुआचोर। तीसरे हरामख़ोर वे हैं जो धर्म के धन्धे करते हैं—महन्त पुजारी पुरोहित पाधा वने वैठे हैं। चौथे हरामख़ोर वे हैं जो पेशेवर लीडर या उपदेशक हैं। पांचवें हरामख़ोर वे मुस्टंडे हैं जिन्होंने भीख मांगने और पराये टुकड़े खाने को अपना पेशा समझा हुआ है। छठे हरामख़ोर वे ज़िमींदार हैं जो किसानों का खून पी कर जी रहे हैं।

इन सभी हरामख़ोरों को समाज से विलकुल नष्ट कर देने की आवश्यकता है। ये लोग समाज की छाती के फोड़े हैं। ये रक्त चूसने वाले पिस्सू और खटमल से भी ज्यादा भयानक कीड़े हैं। जब तक ये समाज में जीवित हैं समाज नहीं पनप सकता।

इसमें सन्देह नहीं,समाज ने इन्हें अपनी दुर्वलताओंसे उत्पन्न किया है, और ये समाज के दुर्बल अंश के आसरे ही जी भी रहे हैं। जब तक समाज का वह अंश दृढ़ न हो जायगा—इन का प्रभाव नष्ट नहीं हो सकता। परन्तु समाज का वह अंश विना इनके नष्ट हुए दृढ़ हो ही नहीं सकता। कुछ ऐसे दृढ़ व्रती मजबूत युवकों की जरूरत है जो मुस्तैदीसे इन्हें नष्ट करने पर तुल जायँ!

सूद खोरों ही की बात पहिले लीजिये। किसान, मज़दूर, छोटी पूंजी वाले व्यापारी और फजूलखर्च सद्गृहस्थ इनके चंगुल में फंसे हुए हैं। ये लोग रुपयों की बदौलत रुपया कमाते हैं। इससे कोई बहस नहीं कि सूदखोरों के लिये शास्त्र में क्या व्यवस्था है। पर इसमें कोई शक नहीं कि संसार भर इन लोगों को हरामखोर समझता और इनसे घृणा करता है। आप चाहे जिस देहात में, क़स्बे में चले जाइये, यह शख्स एक साधारण धोती पहने मनहूस सूरत बनाये बैठा मिलेगा। इसके नेत्रों में तेज नहीं, वाणी में रस नहीं, चेहरे पर चमक नहीं, दो चार दरिद्र किसान और गृहस्थ सदा घेरे बैठे मिलेंगे। यह पाजी भीतर ही भीतर उन्हें भांप कर देखता है कि किस को कितनी गर्ज़ है, फिर वह उसी हिसाब से व्याज की दर नियत करता है। किसान को लगान देना है, जिमींदार के कुत्ते उसकी औरत बच्चों की इज्जत उतार रहे हैं—किसान निरुपाय हो उसके पास आता है। वह उसकी समस्त फसल मनमाने भाव से अपने क़ब्जे में करने की पर्की लिखा पढ़ी करके थोड़े से रुपए उसे गिन देता है। वे रुपये इतने कम होते हैं कि दूसरे ही दिन उसे अपने अभागे पेटके लिए कुछ बन्दोबस्त करने फिर उसी कमीने शख्स के पास आना पड़ता और अपने आप को अधिक से अधिक जकड़वाना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि वह आदमी जो एक बार इनके चंगुल में फस गया, फिर किसी भाँति उससे निकल नहीं सकता। ये लोग क़ानून की मदद से जितने रोमाञ्चकारी जुल्म करते हैं उनका वर्णन करना हमारी शक्ति से बाहर की बात है।

मेरी राय में ऋण लेना उतना बुरा नहीं है जितना कि लोग समझते हैं। और ऋण चुकाना उतना धर्मकार्य नहीं है जितना लोग समझते हैं। जरूरतमें ऋण लिया जाय और न होने पर कभी न चुकाया जाय तो कोई अनुचित बात नहीं है। ऋण लेने में मैं केवल इतनी ही बुराई समझता हूँ कि उससे मनुष्य निरुद्यमी, आलसी और फजूलखर्च बन जाता है। पर जिनके पास प्रभूत धन है वे मनुष्य आलसी, निरुद्यमी और फ़जूलखर्च हैं ही। समाज ने उन्हें कब रोका है? इसके सिवा जहां तक मेरा विश्वास है मेरा उपरोक्त सिद्धान्त यदि अमल में लाया जाय तो ऋण से इस समय जो बुराइयां हो रही हैं नष्ट हो जायँगी और ऋण पाने वाले कभी निरुद्यम आदि दोषों में नहीं फंसेंगे। क्योंकि फिर तामसी ऋण लेने वाले और तामसी ऋण देने वाले सूद-खोर दोनों ही नष्ट हो जावेंगे।

ऋण लेने वाला यदि यह जान ले कि ऋण लेना और लेकर न चुकाना कोई बुरा काम नहीं है, तो उसका साहस निस्सन्देह ही ऋण लेने को बढ़ेगा। और यदि अनायास उसे ऋण मिलने लगेगा तो वह निस्सन्देह उपरोक्त दोषों में फंस जायगा। किन्तु ऋण लेना लेने वाले के आधीन नहीं है। उपरोक्त सिद्धान्त जहां ऋण लेने वाले को उत्साह देगा वहां देने वाले को सर्वथा निरुत्साहित करेगा। जब ऋण देने वाले को यह विश्वास होगा कि ऋण लेना और न चुकाना बुरा नहीं है तो वह किसी को ऋण देगा ही नहीं। अभिप्राय यह है कि ऋण के वर्तमान नियम ऐसे हैं जो ऋणदाता को उत्तेजन देते हैं—ढील देते हैं और ऋण

लेने वाले को कस कर बाँधते हैं। परन्तु मेरा नियम ठीक इससे उल्टा होगा। वह ऋण दाता को कस कर बाँधेगा और ऋण लेने वाले की हिमायत लेगा। और यह उचित भी है। क्योंकि ऋण का सम्बन्ध अधिकतर लेने वाले के स्वार्थ पर है। और ऋण लेने वाले प्राय: बड़े ही कष्ट में ऋण लेते हैं। किन्तु ऋण के जैसे नियम बन गये हैं समाज से भी और क़ानून से भी उनके देखते—ऋण से जितना लाभ ऋण पाने वाले को नहीं होता जितना देने वाले को होता है। ऋण पाने वाला ऋण से पूरा लाभ उठाने का अधिकारी होने पर भी वह ऋण के बदले ऐसी कड़ी प्रतिज्ञाओं में कस जाता है कि जिस दुःख से उद्धार पानेको वह ऋण लेता है वह दुःख उसे और भी कष्ट देता है। इसके विपरीत ऋणदाता सूदख़ोर जो दया-ममता, सज्जनता और उपयोगितामें भी सर्वथा शून्य हैं,ऋणसे पूरा २ लाभ उठाने को स्वाधीन रहता है, समाज और क़ानून हर तरह उसकी मदद करता है। मैं इसे अन्याय समझता हूँ। मेरा नियम ऋणदाता को निरुत्साहित करेगा और ऋण पाने वाले को नियन्त्रित करेगा, क्योंकि फिर उसे उत्साह से ऋण देने वाले तो मिलेंगे नहीं। सूदख़ोर तामसी लोग नष्ट हो जावेंगे। तब रहेंगे कुछ ऐसे दयावान् सज्जन उदार पुरुष जो दीन दुखियों की अड़े वक्त पर सहायता देने ही को ऋण देंगे और यह कभी कामना न करेंगे कि अमुक तिथि पर वह चाहे मर कर चाहे स्त्री बच्चोंको बेच कर ऋण मय सूद चुका दे। विश्वास और प्रेम इनके ऋण का जामिन होगा—विश्वास और प्रेम पाकर ऐसे बहुत कम आदमी निकलेंगे जो विश्वासघात और नोचता

दिखावेंगे। खास कर दीन दुखियां, जो वास्तवमें ऋणके अधिकारी हैं, कभी विश्वासघात न करेंगे, शक्ति रखते वे ऋण चुकायेंगे। मैं यह नहीं कहता, कि ऋण चुकाना उचित नहीं है, मैं कहता हूँ आवश्यक नहीं है। ऋण पाने वाले का यह पहला कर्तव्य है कि हाथ में होते ही पहले धन्यवादपूर्वक ऋण चुका दे। पर साथ ही ऋणदाता का यह कभी अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह इस बात की परवाह न करके कि हमने जिसे ऋण दिया है उसकी परिस्थिति क्या है—उससे ठीक मिती पर ही मय सूद के रुपया लेने को बलात्कार करे, उसकी जीवन सामग्री लूट ले, जेलभेज दे या और दूसरे ऋणमें कस कर नष्ट होने को मजबूर करे।

इसके सिवा जो पेशेवर सूदखोर लोग हैं उन्हें जाति बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिए। उनके समस्त सामाजिक अधिकार छीन लेने चाहिए और उन्हें कोई ऐसा उद्योग धन्धा करने को विवश करना चाहिए कि वे लोग जो उनसे ऋण में रुपये लेते हैं परिश्रम करके लें, और फिर वापस देने की चिन्ता और झंझट में न पड़ें।

व्यापारी और दलालों को, जो वास्तव में जुआचोर लोग हैं नष्ट करने का उपाय यह है कि कारीगर लोग और किसान लोग तथा मजदूर लोग अपना ऐसा संगठन बना लें कि इन लोगों को अपना व्यवहार चलाना ही असम्भव हो जाय। साथ ही जनसाधारण भी इन से कोई व्यवसायिक सम्बन्ध न रखें।

इन लोगों में छोटे-बड़े की परम्परा से इन्हें बहुत सफलता मिल रही है। बड़े व्यापारी छोटे व्यापारियों को, छोटे व्यापारी

फुटकर विक्रेताओं को और वे लोग सर्वसाधारण को माल बेचते हैं। प्रत्येक व्यापारी अपनी दलाली के पैसे इसमें बढ़ाता जाता है। फलतः वह वस्तु ग्राहक को कई गुने मूल्य में पड़ती है, तिस पर उसके शुद्ध होने का कुछ ठिकाना नहीं है।

इन सब अनर्थों की जड़ धन का माध्यम है। मैं जरा यहां इस पर भी गम्भीरता से विचार किया चाहता हूँ।

धन-सम्पत्ति शक्ति और प्रभुत्व का एक भयंकर और वीभत्स बटवारा हमारे सामने है, समाज ही के सामने एक मनुष्य एक लाख मनुष्यों का रस निचोड़ कर मजा कर रहा है, और समाज ही के सामने दूसरा मनुष्य यह कह रहा है कि संसार में मेरा कहीं कोई नहीं है। एक तरफ धन का, विद्या का, शक्ति का, सत्ता का अटूट भंडार, और एक तरफ़ सर्वथा-निराश्रय, निरवलम्ब अन्धकार मय जीवन! क्या इसे हम वीभत्स नहीं कह सकते?

पराये लिये हमारा क्या कर्तव्य है—इसे विना जाने ही यह विषम समस्या उठी है। इस विषमता का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि यदि मैं किसी करोड़पति से पूछूँ कि तुम इतने धनी क्यों हो? तो उसका सच्चा और न्यायपूर्ण उत्तर यह होगा कि क्योंकि मेरे हजारों पड़ोसी निर्धन हैं, और यदि मैं निर्धनोंसे उसकी निर्धनता का कारण पूंछू तो उसका उत्तर यह होगा 'क्योंकि मेरा पड़ोसी धनी है।'

धनके माध्यम ने मानवीय जीवन में बड़ी कठिनता खड़ी कर दी है, और मुझे ऐसा समझ पड़ता है कि संसार के सारे अनर्थ

धन के माध्यम से ही है। मनुष्य जो परिश्रम करता है, उसके बदले धन मिलता है, और जो वह जीवन के लिये चाहता है वह भी धन से ही मिलता है, इस प्रकार उसकी क्रिया और फल के बीच में धन घुस बैठा है, और उसने अपनी प्रधानता जमा ली है।

हालही में पं० जवाहर लाल नेहरू ने महत्व पूर्ण विचार प्रकट किये हैं वे ये हैं—

"संसार से राजनीति तो समाप्त हो चुकी है अब तो केवल एक ही प्रश्न संसार के सन्मुख है और यह प्रश्न है आर्थिक। एक ओर आज सँसार में लाखों करोड़ों आदमी बेकार हैं, रोटी कपड़े के लिये मुहताज हैं। दूसरी ओर माल का भाव बढ़ाने के लिये लाखों मन गल्ला समुद्र में फिकवा दिया जाता है। अभी ब्राजील में इतनी काफी समुद्र में फिकवा दी गई कि यदि वह लोगों में बांटी जाती तो संसार के प्रत्येक व्यक्ति को एक एक पौंड काफी मिल जाती। लोगोंका कहना है कि संसार में पैदावार बढ़ गई है, किन्तु यह बात बिलकुल गलत है, पैदावार तो नहीं बढ़ी है, किन्तु लोग खर्च नहीं कर सकते, क्योंकि उनके खरीदने की शक्ति घट गई है अर्थात् Over-production नहीं किन्तु Under-consumption है।

"इसका कारण यह है कि विश्वमें इतने प्रकारकी मशीनें चल गई हैं कि सहस्रों मनुष्यों के कार्य को कुछ सौ आदमी ही करने लगे और कारखाने के मालिकों ने (चूंकि वे सब पूंजीपतियों के अधिकार में हैं स्टेट का उन पर कोई अधिकार नहीं है) कुछ सौ

को छोड़ कर बाकी को काम से निकाल दिया। इस तरह हजारों आदमी बेकार हो गये। इसलिये पैसे से लाचार हो गये। लिहाजा अपने जरूरत की चीजें खरीद नहीं सकते। जो सैकड़ों मनुष्य कारखानों में रहे भी उनकी मजदूरी घटा दी गई, चूंकि बढ़ी हुई बेकारी के कारण मजदूर सस्ते हो गये। अतएव उन कुछ सौ आदमियों में भी इतनी शक्ति नहीं रही कि वह भी अपनी जरूरत की सब चीजें खरीद सकें।

"अमेरिका में रूजवेल्ट कारखानेके मालिकोंसे मजदूरी बढ़वा रहे हैं और काम करने का समय घटा रहे हैं, क्यों ? इसलिये कि खर्च करने वाले लोगों की खरीदने की क्रय-शक्ति बढ़े। जब काफी खर्च होने लगेगा तो यह आवश्यक है कि जिन्स का मूल्य बढ़ेगा। इसका मतलब यह कि रूजवेल्ट अमेरिका में State-Socialism स्थापित करके वहां की बढ़ी हुई बेकारी को सम्भालना तथा वहां की आर्थिक दशा को ठीक करना चाहते हैं। पर, देखना यह है कि वह अपने प्रयत्न में कहां तक सफल होते हैं, क्योंकि पूञ्जी-पति लोगों का इसके प्रति विरोध अनिवार्य है।

"आज विश्व में आर्थिक-प्रश्न इतना जटिल हो गया है और दिन प्रति दिन होता जाता है कि संसार के धुरन्धर राजनीतिज्ञ और अर्थ शास्त्र के पण्डित भी इसे हल नहीं कर सके हैं, हालाँकि आज तक १३३ विश्व-आर्थिक सम्मेलन हो चुके, लेकिन सब व्यर्थ हुये हैं।"

वास्तव में देखा जाय तो धन की मनुष्य को कुछ भी जरूरत नहीं है। मनुष्य धन को चबा नहीं सकता, पहन नहीं सकता;

मकान की तरह इस्तेमाल नहीं कर सकता। मनुष्य चाहता है अन्न-जल, वस्त्र, घर और दूसरी सुख-शान्तिकी और जीवित रहने की सामग्री। वह उन्हींके लिये परिश्रम भी करता है। धनके युगसे प्रथम जब सिक्का नहीं था, तब मनुष्य के परिश्रम और उसके फल के बीच में कोई माध्यम नहीं था। एक के पास वस्त्र था, उसे अन्न चाहिए था; एक के पास अन्न था और उसे वस्त्र चाहिए थे। बस परस्पर विनिमय कर लिया। पर जहाँ एक के पास वस्त्र था, और वह उसके बदले में घर चाहता था, और दूसरे को वस्त्र तो चाहिये था पर उसके पास बदले के लिये घर नहीं था, अन्न था— ऐसी दशा में कठिनाई होती थी। तब ऐसी व्यवस्था उठी कि एक ऐसी वस्तु हो जो सब का माध्यम हो और जिससे बिना प्रयास सब कुछ मिल सके तब यह धन या सिक्का प्रचलित हुआ। पर इसे जो यह अधिकार प्राप्त था कि इस से सब कुछ प्राप्त हो सकता है इस लिये इस की चाहना आवश्यकता पूर्ति के लिये ही नहीं रही, प्रत्युत संचय के लिये भी इसकी चाह होने लगी। यहीं गजब हो गया। आवश्यकता की तो एक सीमा है। आवश्यकता पूर्ति होने पर तृप्ति हो जाती है। पर संचय असीम है। वह तृष्णा है। उसकी पूर्ति हो ही नहीं सकती। मनुष्य ने अपने समस्त बुद्धि बल को और बाहुबल को इस संचय में लगाया। यहाँ तक कि उचित और अनुचित का भी कुछ ध्यान न रक्खा।

ऐसी माध्यम वस्तु जिस के पास ढेर की ढेर हो जिस के बदले में सब कुछ प्राप्त हो सकता है उसकी खुशामद, चापलूसी,

सेवा वे लोग करने लगे। जो किसी तरह उसे संग्रह नहीं कर सके थे वे उन के लिये पानी भरने लगे, मल मूत्र उठाने लगे। रसोई बनाने लगे, यहां तक कि अपमान भी सहने लगे। इस तरह धीरे धीरे उनका आत्मगौरव नष्ट हो गया और वे इसी भाव में रम गये। उधर इन सेवकों को पाकर और माध्यम धन को पाकर जहाँ वे अकर्मण्य बन गये वहाँ अत्याचार करते करते कर्तव्यज्ञान रहित भी हो गये। एक एक आदमी १६ कहारों को जोत कर पालकी में चलते नहीं लजाता। इत्यादि इस प्रकार समाज में विषमता बढ़ने लगी कि किसी ने बुद्धिसे, किसी ने बलसे, किसी ने कौशल से इस माध्यम को संचय किया। पीछे नव सभ्यता बनने लगी तब मर्यादा के नियम भी सब इन्हीं ने बनाये जिस में पूर्ण स्वार्थता रही।

एक मजदूर तमाम दिन धूपमें खड़ा पत्थर तोड़ता है और उसे छः आना मजदूरी मिलती है। पर एक वकील मजे में गपशप उड़ाता है और ५०) रु० रोज कमाता है। और एक व्यापारी गद्दे पर पड़े पड़े दो चार हज़ार रुपये कमाता है पर जब वह व्यापारी, वकील या मजदूर बाज़ार में कुछ ख़रीदता है तो एक रुपये की वस्तु उसे भी उतनी ही मिलती है जितनी वकील को या व्यापारी को। अर्थात् कमाने के समय तो उसके छः आने बराबर हो जाते हैं वकील के पचास रुपये और व्यापारी के दो हज़ार रुपये के, पर ख़र्च के समय उसके छः आने छः आने रह जाते हैं और वकील के ५० रु० पचास रुपये रह जाते हैं और व्यापारी के दो हज़ार दो हज़ार।

वकील, व्यापारी और मजदूर ये तीनों ही अपनी अपनी योग्यतानुसार परिश्रम करते हैं जीवन निर्वाह के लिये। पर चूंकि धन-फल और परिश्रम में सिक्का मध्यस्थ बन गया है इसलिये वे जीवन निर्वाहके मैदान में आते हैं तो कठिन विषमता हो जाती है, मजदूर बेचारा बहुत-बहुत-बहुत ही पीछे रह जाता है।

कल्पना करिये, आप एक धनी पुरुष हैं। एक आदमी आपकी रसोई को नौकर है, दूसरा आपको जल पिलाने पर है, तीसरा आपको वस्त्र पहनाता है, चौथा आपको शौच कराता है, पांचवाँ आपके मिजाज के लिये रहता है। ये सब ऐसे लोग हैं जिनके बिना आपकी नहीं सरती। अर्थात् आप इनके आदी हैं, और उनका भी बिना आपके गुजारा नहीं है। फलतः आप उनके आधीन हैं, वे आपके आधीन हैं। आप दोनों साथ ही रह सकते हैं, अलग नहीं हो सकते। आप अब सफ़र को चले, आप धनी हैं, आप मोटर में बैठ गये, उस मोटर में वे निर्धन नौकर नहीं बैठ सकते, गुस्ताख़ी भी है और भद्दापन भी है। इधर वे मोटर में नहीं बैठ सकते, उधर अलग भी नहीं हो सकते। निदान वे बेतहाशा पैदल आपकी मोटर के पीछे दौड़ते हैं, पर मोटर को कहां पा सकते हैं। उनकी हाँफ़नी उठती है, कुछ बेदम होकर गिर पड़ते हैं, कुछ थक कर बैठ जाते हैं, कुछ बढ़े जाते हैं, पर मोटर से बहुत पीछे रह जाते हैं। अब आपको भोजन की आवश्यकता हुई, शौच की हुई, ये सब काम तो वेही करायेंगे।

सामाजिक कर्तव्य के आधार पर धन, शक्ति, जन और सत्ता पर भी किसी व्यक्ति का अधिकार न होना चाहिये। पुत्र पर

पिता का कोई अधिकार नहीं है। कोई यदि यह कहे कि मेरा पुत्र मेरी निज की वस्तु है, मैं उसे चाहे जो पढ़ा लिखा सकता हूँ, जिस से वह बुढ़ापे में मेरी सेवा करे तो यह उसका दावा अन्यायपूर्ण है। मनुष्य के ऊपर कुछ सामाजिक ऋण है, वह समाज के बन्धनों में बंधा हुआ है। वह समाज में रहता है, समाज में खाता है, समाज में सुख और शान्ति को पाता है—बदले में कुछ दे ही नहीं सकता, सच पूछो तो बदला किसी वस्तु का कुछ है ही नहीं। भारी प्यास में यदि एक गिलास जल किसी ने तुम्हें पिला दिया और तुमने यदि उसे एक पैसा दे दिया तो क्या उसका वह यथेष्ट बदला है? रुपया फेंक कर स्वयं मुट्ठी भर अन्न उठा कर धन के बल से निर्धनों का पसीना बहा कर उनकी कमाई से एक बड़ी मोटी रकम लेकर उन्हें कठिनता से खाने मात्र को दे देना और स्वयं उस धन का स्वेच्छा से उपयोग करना सरासर अन्याय है। एक तो धन की विषम कमाई ही अत्याचार है। जब जीवन सामग्री को मोल लेती बार धनी निर्धन सब बराबर है, अर्थात् बाजार में प्रत्येक आदमी को चाहे वह धनी हो या निर्धन, बराबर वस्तु मिलती है, तो कमाई भी बराबर होनी चाहिये। कुछ विद्वानों का कथन है कि मस्तिष्क का बल श्रेष्ठ है, जो मस्तिष्क से काम लेने वाले हैं—विद्वान् हैं—वे सदा श्रेष्ठ रहेंगे। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो मैं विद्वानों की श्रेष्ठता का पक्षपाती नहीं हूँ, मैं विद्वानों को मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ नहीं मान सकता। विद्या ने आज तक संसार का कोई भारी उपकार नहीं किया। योरोप की विद्या ने ख़ून-ख़राबी और अशान्ति के एक से एक बढ़िया मार्ग निकाले हैं,

भारत की विद्या ने हमें यह कह कर बहका दिया है कि माता, पिता भाई,बन्धु,परिवार,संसार समाज ये सबझूठे, मतलबी, और स्वार्थी हैं, तुम किसी के लिए कुछ मत करो। जो लोग भारत की प्राचीन विद्वत्ता के पक्षपाती हैं उनसे मैं यह कहे देता हूँ कि जो देश या व्यक्ति बुढापे में अपनी प्रतिष्ठा या सम्मानकी रक्षा नहीं कर सकता,उसकी विद्वत्ता और शक्ति के उपयोग की मैं प्रशंसा नहीं कर सकता। खैर, यदि मैं यह मान भी लूँ कि विद्वान् आदर पावेंगे, और वे अविद्वानों से सदा श्रेष्ट रहेंगे तो भी एक प्रश्न उठता है कि क्या धन ही से श्रेष्ठता तोली जासकती है? निर्धन विद्वान् की अप्रतिष्ठा होती है? ऐसी दशामें विद्वानों को—मस्तिष्कसे काम करने वाले को—मजदूरी अधिक मिले, यह मैं स्वीकार नहीं कर सकता। आप कहेंगे कि फिर जब सब समान ही होगये तो बुद्धिमानों और निर्बुद्धियों में क्या भेद रह गया। इसका उत्तर यह है कि मैं यदि डाक्टर हूँ तो मजे में पंखे के नीचे बैठ कर, आराम से-बिना कोई कठोर परिश्रम किये अपना काम कर रहा हूं और दूसरा आदमी यदि मजदूर है तो वह धूप में खड़ा पत्थर तोड़ रहा है। बस उनकी योग्यता का यह काफ़ी और उचित पुरस्कार है। इसके सिवा धन का विषम वितरण अतिशय भयङ्कर, घोर भयङ्कर है।

मैं यह कहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति के पास जो धन है वह समाज का है। उसे उचित है कि वह उसे स्वेच्छा से नहीं, प्रत्युत समाज की इच्छा से उपयोग करे। ये लाखों वेश्यायें, असंख्य कुत्सित पेशे, अगणित नशे, सैकड़ों ठग विद्या, चोरी, जुआ, सट्टा

ये सब इसी धन के स्वच्छन्द उपयोग के परिणाम हैं, यह समाज आधीन होना चाहिये।

विचारने से प्रतीत होता है कि बुद्धि बलसे संचयके लिए कमाना अप्राकृतिक है, परिश्रम से मजदूरी करना प्राकृतिक है। मैंने मजदूरों को सड़क पर पत्थर कूटते देखा, हिलमिल कर पांत बांध कर खड़े थे, शरीर नंगे, काले, चिथड़ों से ढके थे, बैशाख की धूप तप रही थी, सबके हाथ में भारी भारी लोहे के सड़क कूटने के यन्त्र थे। मुझे दया आई, मैंने मन में सोचा हाय, ये कैसे कष्ट में हैं। पर तभी उन्होंने मधुर स्वर में गाना शुरू किया और गाने की ताल सुर में सड़क कूटना भी, बीच बीच में हँसी मजाक भी चलता रहा। एक आनन्द का सोता था जो बह रहा था। मैंने सोचा, ये इतने सुखी?—इस दशा में? आश्चर्य!

उधर मेरे पड़ोस में एक सेठ साहब हैं, उन्हें मैं नित्य देखता हूँ, पंखे चल रहे हैं, गद्दे तकिये लग रहे हैं, नौकर-चाकर खड़े हैं, चांदी की सुराही में जल रखा है, पर सेठ जी को चैन नहीं। उनकी भृकुटी टेढ़ी है। झुँझला रहे हैं, बक रहे, घबरा रहे हैं, चिंता कर रहे हैं, और परेशान हैं—यह सब क्या है? यह है, संचय की अप्राकृतिक चेष्टा! यह है, छल, ठगी, चोरी, अत्याचार! और वह? वह है जीवन निर्वाह! वह है समाज सेवा। वे मजदूर सड़क कूट कर चले गये। सैकड़ों घोड़ा गाड़ी आराम से जा रही हैं। लोग आ-जा रहे हैं। कितना सुख मिल रहा है। उसी बीच में सेठ ने लाखों कमाये, पर कोई उससे समाज को लाभ नहीं पहुँचा। कितने ही दीन दुःखी बेघरबार अवश्य हो गये।

क्यों कि धनीका धन विना गरीव को गरीव किये नहीं वढ़ता। मेरी रायमें व्यापार का वर्तमान स्वरूप एक अत्याचार है। केवल नफ़ा उठाने के लिए लाखों मन रुई, गेहूँ, घृत, चीनी आदि खरीदना और उसे भाव गराँ होने तक रोके रखना अवश्य अत्याचार है। मनुष्य ने जहां सिक्के को अपने का मध्यस्थ वना कर उसका अत्याचार सहा है, उसी प्रकार उसने व्यापारियों को अपने जीवन निर्वाह में मध्यस्थ करके एक दुरूहता पैदा करली है। क्या जरूरत है इस निकम्मे समुदाय की? जहां से वस्तु उत्पन्न होती है; वहां से, जहां काम में लाई जायगी वहां तक पहुँचते पहुँचते अनेक व्यापारी अपना अपना हिस्सा काट लेते हैं और वह ग्राहक को मंहगे दाम में मिलती है। कल्पना कीजिये, अन्न खेत से पक कर तैयार हुआ, एक धनी ने धन के वल से लाखों मन खरीद कर रख लिया, इस अभिप्राय से कि मनमाने भाव से वेचेंगे। उससे एक और व्यापारी ने कुछ नफ़ा देकर खरीदा। उससे किसी और ने, इस प्रकार अनेकों ने नफ़ा उठाया, पर इन्हें अन्न की आवश्यकता नहीं थी, इन्होंने केवल नफ़ा लेकर वेचने के लिए ही उसे खरीदा था। अव इन लोगों ने जो नफ़ा लिया वह सव उस अन्न के दाम में जोड़ दिया गया और उसी दाम में वह खाने वाले को मिला। क्या यह अत्याचार या अपराध नहीं है? और इसका ही परिणाम सार्वजनिक दुःख, कठिनता और परेशानी नहीं है? यह जुआ—जुए की तरह क्षण भर में दरिद्र और क्षण में कोट्याधिपति वना देता है।

एक और आफत है, व्यापार की आय अपरिमित है। इस

प्रथा से समाज में घोर विषम वितरण होता। क्या हानि है यदि खेत से सीधा अन्न खाने वाले को मिल जाय, बीच के दलाल हटा दिये जांय ?

यह कहा जा सकता कि व्यापार के नाश होने से भिन्न भिन्न देश की वस्तुयें भिन्न भिन्न देश में प्राप्त न होंगी। किसी देश में कोई वस्तु आवश्यकता से कहीं अधिक पैदा होती है जो दूसरे देश में बिल्कुल नहीं होती। जैसे नमक सांभर झील या साल्टरेंज पहाड़ में बेहद पैदा होता है। परन्तु वह यू० पी० आदि में बिल्कुल ही नहीं होता। आम यू० पी० में बेहद होते हैं यहां तक कि फ़सल पर सड़ाव सड़ते हैं। कोई पूछता तक नहीं। वही राजपूताने में बिल्कुल नहीं होते। पर मेरी समझ में समाज के लिए यह कुछ असह्य क्षति नहीं है। जीवन निर्वाह की प्रत्येक सामग्री सर्वत्र है। माता वसुन्धरा सब कुछ सर्वत्र लिये रहती है। जो जहां कुछ हो उसीसे काम चलाया जा सकता है और लाखों वर्ष तक चलाया जा सकता है, कोई बाधा न पड़ेगी। यह सबसे उत्तम रीति है।

जब रेल न थी, तार न थे, दियासलाई न थी, डाकविभाग न था, तब लोग किस तरह काम चलाते होंगे, इस बात पर लोग विचार करते हैं। मैं इसका उत्तर कुछ नहीं देता, क्योंकि यह बात प्रमाणित है कि उनका जीवन लाखों वर्ष चला है। स्थिति जैसी होती है वैसा स्वरूप क्रिया का बन जाता है। शीघ्र ही लोग कहने लगेंगे, 'जब विमान न थे तो कैसे काम चलता होगा ?' यद्यपि आज विमान बिना हमें कोई कष्ट नहीं, पर शीघ्र ही विमान बिना नहीं काम चलेगा। मैं मांस नहीं खाता, मेरे लेखे

मांस का कारबार आज बन्द होजाय,पर मांसाहारी सोचते हैं कि बिना मांस के कोई कैसे रहता होगा ? ठीक इसी प्रकार की बातें हैं जो वर्तमान स्थिति की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। व्यापार का प्रश्न भी वैसा ही है। कितने व्यापार नष्ट हो गये, कितने नये चले हैं। वस्तुएं बनती हैं, आवश्यकता बढ़ती है। मनुष्य आवश्यकताओं को कम करे तो बहुत कुछ कम हो सकतीं हैं। जो मनुष्य अपने लिए मीलों लम्बा महल बनाता है वह साइकिल की चार अंगुल की जगह पर भी आराम से बैठ सकता है। सफ़र में केवल एक बक्स में घर भर को महीनों लिए फिरता है।

इसके सिवा व्यापार यदि विनिमय हो तो बुरा नहीं। एक वस्तु से दूसरी वस्तु बदली जाय। वास्तव में व्यापार विनिमय के ही आधार पर चला था, पर अब तो व्यापार से विनिमय का बहुत करके सम्बन्ध ही नहीं रह गया है। अब व्यापार, रुपये की बदाबदी, सट्टा, छल, साहस और अत्याचार मात्र रह गया है। यह व्यापार जितनी जल्दी नाश हो, अच्छा है। जीवन की उपयोगी सामग्री और उसके ग्राहक के बीच में कोई माध्यम न हो, न व्यापारी हो, तो बहुत ही अच्छा है, नहीं तो व्यापारी तो अवश्य ही न हो। यह अनावश्यक, निठल्ला और अत्याचारी महकमा है।

व्यापार का उपयोग केवल इतना ही है कि जिस वस्तु की जिसे आवश्यकता हो उसे उसके पास इस सरलता से पहुँचा दे कि उसके निजू कामं में विघ्न न हो और व्यापारी

साधारणतया अपनी मज़दूरी लेले। इसके सिवा वस्तु को इकट्ठा मुनाफ़े के लिये खरीद रखना और मनमाने भाव पर बेचने को रोकना उचित नहीं। लोगों का ख़याल है कि इस प्रकार की पद्धति से सुभीता रहता है, कारीगरों को अपनी वस्तु बेचने के लिये भटकना नहीं पड़ता, और समय नहीं गंवाना पड़ता। उधर ग्राहकों को प्रतीक्षा और भय नहीं रहता, पर इसके गर्भ में जो भयङ्करता छिपी है वह विना विचारे नहीं स्पष्ट होती। उदाहरण चमारों का लीजिये, ये लोग जब जूते ग्राहकों के बनाते थे और ग्राहक लोग सीधे इन्हीं से ख़रीदते थे, तब वे जितने सस्ते और मज़बूत मिलते थे उसकी अपेक्षा दूने महंगे और कमज़ोर मिलते हैं। मंहगे तो इसलिये कि व्यापारी की नफ़े की हविस बढ़ी हुई होती है, दूसरे नौकर चाकर, दूकान किराया, अपने परिवार का खर्च आदि सब इन्हीं जूतों के ज़ोर से कमाया जाता है। फलतः वह अधिकसे अधिक नफा बचा रखने के लिये उचित और अनुचित जितने उपाय हैं सब करता है, उनमें एक उपाय यह भी हैकि वह कारीगरसे जैसे बने वैसे सस्तेसे सस्ता माल लेता है। इसके लिये कई उपाय किए जाते हैं। वह कारीगर को प्रथम क़र्ज़ में फंसा रखता है, उसे घटिया माल लगाने को उत्तेजित करता है, झूठा भराव भराता है, इसलिये जूता कमजोर और निकम्मा बनता है। यह महँगापन लोग सह जाते हैं, क्योंकि बाज़ार में सब जगह वही भाव है और कमजोर की शिकायत नहीं कर सकते, क्योंकि यह दोष कारीगरके गलेमें मढ़ा जाता है। व्यापारी तो यह कहकर छूट जाता हैकि जैसा आया वैसा दिया।

सुनारों को ही लीजिये। जब इन से सीधा ग्राहकों का सम्बन्ध था, तब इनको दशा अच्छी थी, माल खोटा होने पर इन्हीं की जिम्मेदारी होती थी, अगर खोट करते भी थे तो बहुत थोड़ा। पर जब से सर्राफ़ों ने कारीगरों और ग्राहकों बीचमें टांग अड़ाई, दलाल बने, तब से सब चौपट हो गया। अब जेवरमें आधा दाम रहता है, खोट के लिये उनके पास वही उत्तर है जो जूते के व्यापारियों के पास, इसके सिवाय थे इकट्ठा काम सस्ती मजदूरी में कराते हैं। इससे काम चलाऊ भद्दा और खराब माल बनता है। हमारी समझ में नहीं आता कि इन्हें बीच में लोग क्यों नफ़ा देते हैं, क्यों इन की मार्फत काम कराते हैं।

लोग कहते हैं कि सुनार चोर होते हैं, वे बड़े भारी जादूगर हैं, दिन दहाड़े आंखों में धूल झोंकते हैं, पर मैं समझता हूँ कि उनका चोर होना स्वाभाविक ही है। वे चोर क्यों न हों? उनके हाथ से पाँच पांच हज़ार का माल निकल जाता है, हज़ारोंके जवाहरात जड़े जेवरों को गूंथ कर, उजाल कर घण्टों तक उनके अलग अलग पुरज़ों को हाथमें लेकर देखना पड़ता है। सब की मज़दूरी मिलती है बहुत साधारण। साथ ही वे समझते हैं कि यह केवल खूबसूरती की चीज़ है, सजावट है, कुछ सम्पत्ति नहीं है, वे मोती बदल लेते हैं और और गड़बड़ भी करते हैं। और जैसा प्रलोभन उनके सामने है उसे देखते वे जो न करें सो थोड़ा है।

कारीगरी का एक फल सजावट भी है। यह सजावट दो क़िस्म की होती है, एक आवश्यक और दूसरी सुन्दर। आवश्यक वस्तुओं की खपत अधिक होती है, मनुष्य को विवश होकर

खरीदना पड़ता है, पर इतना होने पर भी उस प्रकार की वस्तुओं की मजदूरी पूंजी से तिगुनी चौगुनी होती है। लकड़ी का काम, टीनका काम, लोहे का काम, काँच का काम आदि कामों में लकड़ी, टीन, लोहा आदि की अपेक्षा दूनी, तिगुनी मजदूरी पड़ जाती है। तिस पर ये वस्तुयें आवश्यक है। इनके बिना काम नहीं रुकता। पर जेवर जैसी वस्तु बिलकुल अनावश्यक है और केवल सुन्दर सजावट है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो पूंजी को समय कुसमय के लिये सुरक्षित रखने को जेवर बनाते हैं—पर वे कम समझे, टटपूँजिये और दरिद्र हैं। सम्पत्तिशास्त्र के आधार पर भी आभूषण पूंजी के सुरक्षित रखने का ग़लत उपाय है, क्योंकि इस में सूद तो मिलना एक ओर रहा, टाँका लग कर, चट्टा लग कर, घिस कर आधा रह जाता है। ऐसी दशा में मेरा विश्वास है कि जिन लोगों के पास बिलकुल फ़ालतू धन है, वे ही जेवर बनवाते हैं—वक्त-बेवक्त उनका उपयोग करने की धारणा उन्हें स्वप्न में भी नहीं होती। तब जो ऐसे फ़जूलखर्च हैं, धन का इतना दुरुपयोग कर सकते हैं कि ३०) रुपये तोले की वस्तु से फ़ालतू सजावट कर सकते हैं वे ३०) में १) रुपया ही मज़दूरी क्यों देते हैं ? जैसे और और कारीगर लागत की अपेक्षा तिगुनी चौगुनी मज़दूरी लेते हैं, सुनारों को भी कम से कम २०) रुपये तोला मज़दूरी लेनी चाहिये॥ लकड़ी आदि के कामों की मजदूरी चाहे घट भी जाय पर सुनारों की नहीं घटनी चाहिए। क्योंकि उन वस्तुओं को तो गरीब अमीर सब लेते हैं। लेनी पड़ती है। बिना उनके काम चलता नहीं। पर जेवर तो वही बना

सकता है जिसके पास फ़ालतू, बहुत फ़ालतू, सिर्फ सजाने के लिये रुपया है। उनसे कम मज़दूरी नहीं लेना चाहिये और यदि वे कम मज़दूरी दें तो बेखटके जवाहरात मोती बदल लेना चाहिये, सोना खोटा कर देना चाहिये, हो सके तो सोने के बदले पीतल, ख़ालिस पीतल देना चाहिये। क्योंकि जवाहरात चाहे सच्चे हों या झूठे, सोना हो या पीतल, सजावट में फ़र्क कुछ न पड़ेगा। उधर जो रुपया बच रहेगा उस से ग़रीब कारीगर के बच्चे पेट पालेंगे। धन का सदुपयोग होगा और कारीगर के अपमान का बदला मिल जायगा।

ज़मींदार भी प्रकारान्तरसे व्यापारी ही हैं। वे भी व्यापारियोंकी ही तरह अपनी भूसम्पत्ति पर कमाते हैं और पड़े पड़े खाते हैं।

बादशाही ज़माने में जब शासन व्यक्तिगत स्वाधीनता के अधिकार में था तब इन ज़मींदारों की सृष्टि हुई थी। उस से प्रथम भी स्वाधीन ज़मींदार माण्डलिक राजा कहाते थे। पर वह दशा इस दृष्टि से कुछ अच्छी थी। क्योंकि वे बड़े राजाओं के केवल इतने ही आधीन थे कि वक्त पर सेना की सहायता दें। पर मुसलमानी साम्राज्य में इन ज़मींदारोंको ठेका मिल जाता था। ये बँधी हुई रक़म बादशाह को दे देते थे और आप मनमाना कर प्रजा से वसूल करते थे। यह मनमानी किसी तरह अत्याचार नहीं मानी जाती थी। अंग्रेजी राज्य में भी कुछ हेर फेर कर ज़मींदारों का वही अधिकार रहा। मेहनती किसान पिस रहे हैं, बर्बाद हो रहे हैं और सर्वथा नष्ट हो रहे हैं—और ये निकम्मे फल फूल रहे हैं।

उचित तो यह है कि किसान ज़मीन के अस्थायी मालिक बना दिये जायँ और उनके परिवार की जनसंख्या देख कर सरकार जब चाहे उस जमीन को घटा बढ़ा दे—वे उसे पट्टे पर उठाने बेचने या अकारण ख़ाली रखने में स्वाधीन न हों, एक तौर से सरकार पर ही उनका उत्तरदायित्व हो और सरकार और उनके बीच में कोई व्यवधान न हो।

किसान अपना एक प्रतिनिधि मण्डल चुन लिया करें और उसमें ऐसा प्रबन्ध हो कि किसान और सरकारके स्वार्थोंकी समान भाव से रक्षा होसके,वही किसानों और सरकारके बीचका मध्यस्थ रहे।

सारांश यह कि धन जातीय सम्पत्ति होनी चाहिये, व्यक्ति-गत नहीं। कोई आदमी किसी जायदाद को या द्रव्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति नहीं कह सकता। जैसे हम प्रथम संचय की निन्दा कर चुके हैं, उसने यह स्थिति उत्पन्न करदी है कि इस धन का समाज की पराधीनता पर सदा दुरुपयोग होता है। कल्पना करें कि एक करोड़पति के पास बहुत रुपया फ़ालतू पड़ा हुआ है। वह उसे देख देख कर खुश होता है या रत्न जेवर आदि बनवा कर उसे गिजोलता है। जैसे बच्चे पेट भरे पर मिठाई के लालच में खाने को बहुत सा ले लेते हैं, पर खा तो सकते नहीं, उसे बिगाड़ा करते हैं, ठीक वही दशा धनियों के धनकी समझिये। इधर तो यह दशा है और उधर एक आदमी के बाल बच्चे एक मुट्ठी अन्नके लिए तड़पते हैं। वह दुःखी होकर,लज्जा को ताक में रख कर धनी के पास जा नर्मी से कहता है कि मेरे बच्चे भूखों मर रहे हैं, कृपा कर दो पैसे चबैने के लिए दे दीजिये। धनी महाशय

बड़ी कृपा करके उसके बर्तन गिरों रख कर या दस्तावेज़ लिखा कर दो पैसे देते हैं, इस शर्त पर कि इतने दिन बाद तीन पैसे तुम्हें वापस देने होंगे, चाहे जान बेच कर लाना, पर देने होंगे ज़रूर। न होंगे तो हम क़ानून की मदद से तुम्हारे खाने पीने के पात्र और पहनने के चिथड़े, रहने की झोंपड़ी सब छीन लेंगे और तुम्हारे बच्चों को दर दर बे घरबार भटकना होगा। दरिद्र बेचारा अपने बच्चों का तरस करके इसी भयङ्कर शर्त पर पैसा ले आता है; उससे उसके बच्चों के आँखों में दम आता है, पर अगले दिन फिर उसे वैसा ही क़र्ज़ लेना पड़ता है। समाज ने, स्वार्थ ने, संचय ने, विद्या ने उसके कमाने के सब साधन छीन लिए हैं। फलतः वह वापस दे नहीं सकता। अदालत में क़ानून भी यही न्याय करता है कि बेशक इसे यह पैसा मय सूद देना चाहिये, वरना करोड़पति को उसके घर बरतन छीन लेने का अधिकार है। ऐसे भेड़िये स्वार्थी करोड़पतियों को तो दिन दहाड़े लूट लेना चाहिये और कान पकड़ और लंगोटा कस कर घर से निकाल बाहर कर देना चाहिए और ऐसे हत्यारे निर्दय क़ानून को जितनी जल्दी हो फाँसी लगा देना चाहिए।

लोग कहते हैं कि अधिकारी को धन मिलेगा, पर मिलजाता है हर किसी को। केवल उत्तराधिकार चाहिये। बड़े सज्जन सदाचारी को भूखों मरना पड़ता है। पर मूर्ख, भोंदू, लम्पट, शराबी धन के स्वामी हो जाते हैं।

जगन्नाथ पण्डितराज को भी इस बात पर गुस्सा आया था। वे कहते हैं:—

'भूतिर्नीच गृहेषु विप्र सदने, दारिद्र्य कोलाहलो ।
नाशो हन्त स तामसन फलजुषामायुस्समानां शतम् ।
दुर्नीतिं तव वीक्ष्य कोपदहन ज्वालाजटालोऽपिसन् ।
किं कुर्वेजगदीश यत्पुन रहं दीनो भवानीश्वरः ॥

अर्थात्—नीचों के घर में सम्पत्ति का चमत्कार और विद्वान् ब्राह्मणों के घर में दरिद्रता का कोलाहल, सत्पुरुषों की शीघ्र मृत्यु और पापियों की सौ वर्ष की उम्र देने की तेरी दुर्नीतियाँ देखकर क्रोध की अग्नि से जलता हुआ भी तेरा कुछ कर नहीं सकता हूँ, क्योंकि मैं दीन हूँ और तू ईश्वर है।

पण्डितराज को यह नहीं मालूम था कि यह सब सामाजिक अत्याचार का फल है, केवल इसलिये कि वे उत्तराधिकारी थे। इस उत्तराधिकार को हाथी के पैरों तले कुचलवा देना चाहिये। कुत्तों से नुचवा डालना चाहिये। बिना ऐसा किये संसार से दुष्टता, कायरता, अत्याचार और पाप नहीं नष्ट हो सकते। किसी को भी एक तो संचय के लिये कोई वस्तु या द्रव्य प्राप्त नहीं करना चाहिये। और संचय यदि हो भी जाय तो वह समाज की सम्पत्ति समझकर समाज को दे देना चाहिये। क्यों कि 'आदानंहि विसर्गाय' सूर्य की भाँति जो यावन्मात्र रसों को खींचता है, पर सहस्र गुण वापस वर्षा देता है।

धर्मसांड और भिखारी मुस्टंडों के विषय में अधिक कहने की मुझे आवश्यकता नहीं। देश में ५२ लाख भिखारी हैं जो लगभग सभी पूरे मुस्टंडे हैं, और पराया माल खाकर कुत्ते की भांति दिन व्यतीत करते हैं। कुत्ते फिर भी मालिकके घर की रखवाली

करते हैं, पर ये लोग मौका पड़ने पर सद्ग्रहस्थों की बहू बेटियों पर भी हाथ साफ़ करते हैं। इन लोगो में धूर्तों और ठगों का बड़ा भारी ज़मघट है। कोई तो क़ीमिया बनाने के बहाने भोले भाले लोगों को ठगते हैं, कोई बाल बच्चा पैदा करने की गुप्त तरकीब जानते हैं। बहुतेरे भूत प्रेत जादू टोना यन्त्र मन्त्र आदि की ज़ुगत बताया करते हैं। चरस, भंग, गांजा, सुलफ़ा फूँकना इनकी सिद्धाई है। गालियां बकना, अश्लील चेष्टाएं करना इनका साधुपन है। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक सद्गृहस्थ क़सम खाकर प्रतिज्ञा करे कि वह इन लफंगों को कभी एक पाई भी न देगा।

भिखारी को भीख देना, दान या पुण्य नहीं प्रत्युत घोर पाप है। इसी पाप की बदौलत देश में लाखों भिखारी उत्पन्न हो रहे हैं। किसी देश में भीख मांगने वालों का ज़िन्दा रहना उस देश के लिये हद दर्जे की शर्म की बात है।

ये लोग धेले का गेरू और एक पैसा सिर मुण्डाई का खर्च करके झट साधु बन बैठते हैं। इन लोगों में अधिकाँश दादू पन्थी, रामसनेही, कबीर पन्थी, निरंजनी आदि हैं। इनके बड़े बड़े मठ वा रामद्वारे हैं, इन लोगों में श्रमी या कृषक जाति के बालक ज्यादा भर्ती होते हैं। साधु लोग जाट, माली, गूजर, बिश्नोई और कुरमियों में से चेला मूड़ते हैं। ये लड़के साधु होने में बड़ा आराम समझते हैं। मेहनत से छूट जाते हैं, और बोहरों के कर्जे से बच कर दूसरों के माल से स्वयं सेठ बन जाते हैं।

किसी योरोपियन विद्वान्ने इन्हें नरोंमें सांड बताया है, जिनके द्वारा विधवाओं और बलहीन गृहस्थों की स्त्रियों में व्यभिचार

फैलता है। इन में जो थोड़े बहुत पढ़ जाते हैं वे अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि, कहते हुए अपने ही समान सब को ब्रह्म समझने लगते हैं। ये नीच अपनी शिष्याओं को यह उपदेश देते रहते हैं कि 'ब्रह्मनी, ब्रह्म लग्नम' इसका अर्थ यह होता है कि स्त्री भी ब्रह्म और पुरुष भी ब्रह्म, तो गोया ब्रह्म से ब्रह्म मिला इसमें कोई दोष नहीं।

भारत में प्राचीन काल में कुछ महात्मा त्यागी साधु रहते थे, जिन्होंने अपने शरीर और प्राण दोनों को अपने देश के लिये दिया हुआ था। ये महात्मा भिक्षावृत्ति से गुजर करते थे। परन्तु आज धूर्त मुस्टंडे फक्कड़ लोग उस पवित्र भिक्षा को पाने के प्रकृत अधिकारी नहीं। इन लोगों को मजबूर करना चाहिऐ कि ये पसीने बहा कर रोटियां खायें। इन में बहुतों के पास लाखों की सम्पत्ति है, ये हाथियों पर निकलते हैं। इनकी समस्त सम्पत्ति को हठपूर्वक छीन कर सामाजिक उपकारी संस्थाओं के सिपुर्द कर देना चाहिये।

(१८)

कुरीतियों और रूढ़ियों को नष्ट कर दो

याद रखो, गुलाम और नामर्द कौमें हमेशा कुरीतियों और रूढ़ियों की दास हुआ करती हैं। हिन्दू जाति में इन दोनों चीजों की कमी नहीं है। ये दोनों बातें अन्य जङ्गली और पतित जातियों के समान हिन्दुओं में भी अन्ध विश्वास के आधार पर हैं।

प्रत्येक जाति के जीवन का आधार प्रगतिशीलता है। जिस में प्रगतिशीलता नहीं, वह जाति जिन्दा नहीं रह सकती। हिन्दू जाति की प्रगति कब की नष्ट हो गई है, और अब वह जाति केवल मौत की सांस ले रही है। सड़ातन धर्म हमारी आत्मा में रम गया है और हम उसी गढ़े का सड़ा हुआ जहरीला पानी पी-पी कर मर रहे हैं। जिस में नये जलके आने का कोई सुभीता ही नहीं है।

यह सड़ातन धर्म दो हजार वर्ष से ज्यादा पुराना नहीं, पुराना होने पर भी मान्य नहीं। मैं इस सिद्धान्त को मानने से इन्कार करता हूँ कि जो कुछ पुराना है वह सब शुभ है और माननीय है। मेरा कहना यह है कि जो कुछ हमारे लिये बुद्धिगम्य और शुभ है वही हमारे लिये माननीय है। धर्म और जातियां तो वही जिन्दा रह सकती हैं जो समय के अनुकूल अपनी प्रगति को तत्कालीन बनाये रखें।

हमारी सब से भयानक कुरीति हिन्दुओं की विवाह पद्धति है। इस प्रथा की आड़ में अनगिनत पाप, पाखण्ड, अन्याय और अपराध किये जाते हैं। विवाह का मूल उद्देश्य स्त्री पुरुष की परस्पर आत्मभावना का नैसर्गिक विनिमय है, जिसके आधार पर प्रकृति का प्रवाह चल सकता है। स्वभाव ही से स्त्री पुरुष दोनों मिल कर एक सत्य बनता है। अतः समय पर उपयुक्त स्त्री पुरुष का परस्पर सहयुक्त होना अत्यावश्यक है।

परन्तु यह सहयोग वैज्ञानिक भित्ती पर है। इसका सब से मोटा उदाहरण तो यही है कि सपिण्ड और सगोत्र स्त्री पुरुष संयुक्त नहीं हो सकते। यह बहुत गम्भीर और वैज्ञानिक बात है कि भिन्न रक्त और वंश को मिला कर सन्तानें उत्पन्न की जायँ। परन्तु वह विज्ञान तो प्रायः नष्ट कर दिया गया है।

विवाह की प्रथा में सब से ज्यादा बेहूदा और अधर्म की परिपाटी 'कन्यादान' की परिपाटी है। पिता कन्या को वर के लिये दान देता है। हिन्दू विवाह में यह सर्वाधिक प्रधान बात है। किसी जीवित आदमी को दान करना या बेच देना कहां तक जङ्गली बात है इस पर मैं हिन्दू मात्र को विचार करने की सम्मति देता हूँ। शोक तो यह है कि आर्यसमाज की पुत्रियां भी विवाह के अवसरों पर पिताओं द्वारा दान की जाती है। आर्यसमाजी वैदिक धर्मी होने की डींग तो हांकते हैं पर मैं उन्हें डंके की चोट चैलेन्ज देता हूं कि वे साबित कर दें कि कन्यादान का विधान करनेके मन्त्र किस वेदमें है? वेदमें तो ये शब्द मिलते हैं -

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"

सनातन धर्मियों के विवाह की अपेक्षा मुझे आर्यसमाज के विवाह ज्यादा भ्रष्ट और बेहूदे प्रतीत होते हैं और मैं उन्हें कदापि नहीं सहन कर सकता। सनातन धर्म की कन्याएं—बालक, अभागिनी, अबोध, मूर्खा, और पिता की सम्पत्ति होती हैं। पिता वर का स्वागत करता है, आसन देता है, गोदान करता है, मधुपर्क देता है, पाद्य और आचमनीय देता है, तब कन्या को भी दे देता है। इस के बाद वर वधू सप्तपादी आदि भी करते हैं। इन सब बातों में जैसा भी पातक या अनीति हो वह क्रमबद्ध तो है। पर आर्यसमाज की पुत्रियां युवती हैं, पढ़ी लिखी हैं, विवाह के प्रश्नों पर उन्हें विचार करने का अवसर दिया जाता है, बहुधा कन्या को भावी वर को पसन्द करने का अवसर भी दिया जाता है। विवाह की वेदी पर कन्या स्वयं वर का स्वागत करती और अर्घपाद्य आदि देती हैं। इसके बाद पिता कन्या दान देता हैं, और तब प्रतिज्ञाएं या सप्तपदी की क्रियाएं की जाती हैं। अजी जनाब, मैं यह पूछता हूँ, जब कन्या दान ही कर दी तब प्रतिज्ञाओं का क्या महत्व है? यदि वर वधू प्रतिज्ञाओं से इन्कार कर दें तो क्या कन्यादान वापस हो सकता है? आर्यसमाज के पण्डितगण वेद मन्त्रों की व्याख्या करके वर वधू को प्रतिज्ञाओं के अर्थ समझाने की चेष्टा करते हैं। सनातन धर्मी तो एक रस्म पूरी करके छुट्टी लेते हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि आर्य समाज की विवाह पद्धति ज्यादा आपत्तिजनक है।

यदि मैं यह कहूँ कि मनुस्मृति, जो वास्तव में मनु की बनाई नहीं है, इस भयानक अनर्थ की जड़ है, तो बेजा नहीं। साधारणतया

यह कहा जाता है कि स्मृतियां वेद के अनुकूल चलती हैं, पर विवाह के मामलों में इस स्मृति ने वेद के नियम के विरुद्ध ही नियम बनाये हैं। यह स्मृति ८ प्रकार के विवाहों का बयान करती है। प्रथम विवाह आर्ष है जिस में कन्या का पिता अलंकृता कन्या को श्रेष्ठ वर को दान करता है। दूसरा विवाह ब्राह्म है, जिस में पिता एक बैल का जोड़ा लेकर वर को कन्या देता है। तीसरा विवाह दैव है जिस में पुरोहित को दक्षिणा के तौर पर कन्या दे दी जाती है। चौथा गांधर्व है जिस में वर कन्या चुपचाप पति पत्नी भाव से रहने लगते हैं। एक विवाह राक्षस है जिस में रोती कलपती बालिका को बल पूर्वक हरण करके जबर्दस्ती ले जाया जाता है।

इन नियमों में ग़ौर करने की बात यह है कि कन्या को अपना वर स्वयं चुनने का गन्धर्व विवाह को छोड़ कर कहीं भी अधिकार नहीं दिया गया। गंधर्व विवाह की बात हम पीछे करेंगे। प्रथम तो हम दैव विवाह पर ग़ौर किया चाहते हैं कि एक आदमी जो यज्ञ कराने आया है, उसे बहुत सी दान दक्षिणा की चीजें दी जाती हैं, उस में कन्या भी दी जा सकती है। यह केवल नियम ही नहीं, हम ऐसे उदाहरण दे सकते हैं जिस में राजाओं ने अपनी सुकुमारी राजपुत्रियाँ पुरोहितों को दे डाली हैं।

अच्छा, राक्षस विवाह को किस आधार पर विवाह माना जाता है? जबर्दस्ती, रोती, कलपती कन्या को बलपूर्वक हरण करके ले जाना अपराध है कि व्याह? भीष्म जैसे ज्ञानी और

महावीर ने यह अपराध किया था, वह काशीराज की तीन कुमारियों को जबर्दस्ती युद्ध करके छीन लाये थे। न कन्या का पिता और न कन्या ही इसके अनुकूल थे। मैं जानना चाहता हूँ कि यदि भीष्म पितामह को ताजीरात दफ़ा ३६६ के अनुसार मजिस्ट्रेट के सामने अभियुक्त बनाकर खड़ा किया जाय तो वे चाहे जितना भी इस कर्म को धर्म की दुहाई देवें सात वर्ष की सख्त सज़ा पाये बिना नहीं रह सकते। और कोई भी आदमी न नैतिक दृष्टि से और न सामाजिक दृष्टि से किसी कन्या का इस प्रकार हरण ही कर सकता है। फिर यह कुकर्म विवाह हो ही नहीं सकता।

गान्धर्व विवाह का हमें प्राचीन इतिहास में एक ही उदाहरण मिलता है, शकुन्तला और दुष्यन्त का। यह गान्धर्व विवाह कितना बेहूदा और नीच कर्म था इसका ज्ञान हमें इसी विवाह से मिल जाता है। हमें कालिदास की रसीली कवित्वमयी लच्छेदार बातों से कुछ सरोकार नहीं, हम महाभारत की असली कथा पर ग़ौर किया चाहते हैं।

दुष्यन्त जैसा श्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा शिकार को जाता है। वहां वह कण्व के आश्रम में पहुंचता है। कण्व वहाँ नहीं हैं, उनकी योग्य पुत्री शकुन्तला है, वह उस युगके धर्मके अनुसार राजा का आतिथ्य करती है। राजा इस सुयोग से लाभ उठा कर बेचारी कुमारी बालिका को फुसलाकर वहीं उसका कौमार्य्य नष्ट करके और बहुत से सब्ज बाग़ दिखाकर घर चल देता है। जब ऋषि आते हैं और उन्हें सब बातें मालूम होती हैं, वे यही निर्णय देते हैं कि इसे उसके यहाँ पहुँचा आओ। जब वह वहाँ जाती है

तो दुष्यन्त साधारण लम्पट की भांति निर्लज्जता से कह देता है कि यह कौन है इसे तो मैं जानता भी नहीं। अन्त में वह माता के पास जाकर दिन काटती है, जिसे उसी की भांति एक ऋषि भ्रष्ट कर चुका था, और जिसका फल वह खुद थी। बहुत दिन बाद राजा को वृद्ध होने पर भी जब पुत्र नहीं होता तब वह उसे खुशामद कर कराकर ले आता है।

यह असल कथा है। मेहमान का इस से ज्यादा नीच कर्म कौन सा हो सकता है कि वह जिसके घर में अतिथि बने उसी की कुमारी कन्या को उसकी गैरहाजिरी में कुछ ही घण्टों में बहका कर न केवल उसे विवाह पर राजी करे, प्रत्युत तुरन्त ही उसका कौमार्य्य भी नष्ट कर दे, और फिर उसको पहिचानने से भी इन्कार करदे?

द्रौपदी, सीता और दमयन्ती आदि के स्वयम्वरों की चर्चा भी हमें प्राचीन पुस्तकों में मिलती है। परन्तु वे नाम मात्र के स्वयम्वर थे। सभी में पिता की एक शर्त थी, उसे पालन करके कोई भी वर उस कन्या को प्राप्त कर सकता था। यदि रावण और बाणासुर जनक के धनुष को चढ़ा पाते तो वे अवश्य ही सीता को प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते थे, चाहे सीता उन्हें प्रेम न कर सकती।

स्त्रियोंकी बिना रुचि जाने बिना, उनको अपने जीवन पर विचार करने का अवसर दिये बिना पुरुषों का स्वेच्छा से उनका विवाह कर देना स्त्री जाति मात्र का घोर अपमान करना है। इस कुकर्म ने हिन्दू जाति की स्त्रियों के सब सामाजिक अधिकार छीन लिये,

हैं, और उन्हें निरीह पशु के समान बना दिया है। इसी कन्यादान की प्रथा के कारण पति की सम्पत्ति में उनका कुछ भी अधिकार नहीं। विधवा होने पर वे केवल रोटी कपड़ा पा सकती हैं, मानों वे घर की कोई बूढ़ी निकम्मी गाय भैंस हैं। संसार की किसी भी सभ्य देश की स्त्री विवाह होने पर हिन्दू स्त्री की भाँति बेबस नहीं हो जाती। इसका कारण यही है कि वह दान की हुई वस्तु है और उसके प्राण, आत्मा और शरीर पर उसके पति का पूर्णाधिकार है।

बालविवाह इस कुकर्म का दूसरा स्वरूप है। आज ढाई करोड़ विधवायें इस कुकर्म के फलस्वरूप हिन्दुओं की छाती पर बैठी ठण्डी सांसें ले रही हैं। कोई जहर खाकर दुःख से छुटकारा पाती है, कोई भंगी, कहार, मुसलमान के साथ भागकर खानदान का नाम रोशन करती है।

कन्याविक्रय एक भयानक अपराध तो है ही, वह भीषण पाप भी है। परन्तु इस अपराध और पापकी जिम्मेदारी उन बद-नसीब पशुप्रकृति पिताओं पर नहीं है, जो लोभ और स्वार्थमें अँधे होकर अभागिनी, अज्ञान बालिकाओं को बेच देते हैं। इसके असली जिम्मेदार तो वे धर्म शास्त्र हैं जिन्होंने बचपन की शादी को धर्म कर्म बताया, जिन्होंने रजस्वला कन्या को देखना नर्क का कारण बताया—जिन्हों ने कन्याओं को दान करने की चीज़ बनाया, जिन्होंने पुत्रियों को समाज का अभिशाप, सन्तानों में निषिद्ध वस्तु ठहराया। यदि ये दूषित और लानत भेजने योग्य धर्म शास्त्र ऐसे बेहूदे विधान न करते तो आज पिता अभागिनी बालिकाओं

को वेचने के लिये स्वाधीन न हो सकते थे। कन्यायें भी मनुष्य के अधिकारों को प्राप्त करती थीं और अपने जीवन,भविष्य और लाभ हानि पर विचार करती थीं ।

आज लाखों कन्यायें बूढ़े खूसटों के अत्याचार की शिकार बनती हैं । एक रोमांचकारी आंखों-देखी घटना हम यहां बयान करना आवश्यक समझते हैं। एक करोड़पति सेठ ने जिन्हें दीवान बहादुर का खिताब था, ६५ वर्ष की अवस्था में एक ११ वर्ष की लड़की से विवाह करने की ठानी। सुना गया कि लड़की बीकानेर राज्य भर में एक मात्र सुन्दरी बालिका है। कन्या को मृत्यु शय्या पर हमने देखा था, उसमें तनिक भी अत्युक्ति न थी। कन्या की सगाई उसके पिताने एक अन्य दुहेजुआ आदमी से साढ़े चार हज़ार रुपया लेकर कर दी थी, परन्तु सेठ ने उसके ग्यारह हज़ार दाम लगा दिये। इसलिये सगाई सेठ को चढ़ा दी गई। इस पर वह व्यक्ति, जिसे सगाई चढ़ गई थी, आया और पञ्चों से फ़रियाद करता फिरा, परन्तु कोई भी पञ्च सेठ के विरुद्ध कुछ न कर सकता था। वह व्यक्ति हमारे पास आया और हमने उसे नुसखा बता दिया। हमने उसे सलाह दी कि अमुक मन्दिर में अन्न जल त्याग धरना देकर बैठ जाओ। ५०) पुजारी को चुका दो और कहदो जब तक मैं अन्न जल न करूँ ठाकुर जी को भोग न लगाया जाय। यही किया गया और दोपहर तक नगर भर में अफ़वाह फैल गई कि आज ठाकुर जी के पट बन्द हैं, दर्शन नहीं होते। न भोग लगता है। उसका कारण यह कि एक फ़रियादी ने वहां धरना दिया है। गरज़ भीड़ की भीड़ आने लगी और पञ्चा-

यत जुड़ी—फैसला यह हुआ कि उसके रुपये वापस दिये जायँ। सेठ ने पञ्चों को ग्यारह हजार की लागत की एक बगीची मय अहाते के पञ्चायत के नाम देकर यह फैसला खरीदा था। विवश वह रुपया ले घर में बैठ रहा। तब नगर के युवकों ने लड़की के मामा को बुलाकर उसे आगे कर दावा दायर किया। वे महा-युद्ध के दिन थे। सेठ ने एक लाख के वार बौण्ड खरीद कर अपने हक़ में फैसला ले लिया, और तत्काल विवाह की तैयारी होने लगी। चीफ़ कमिश्नर पहाड़ पर थे, तार द्वारा अपील की गई, वहां से विवाह रोकने की आज्ञा भी आई—पर विवाह जङ्गल में एक वृक्ष के नीचे कर दिया गया।

बालिका विवाहित होने के ६ महीने बाद सेठ जी मर गये। उनकी मृत्यु के १ मास बाद वह प्रथम बार रजस्वला हुई और ३ मास बाद एकाएक रात को २ बजे हमें बुलाया गया। देखा, वह मर रही थी और उसे जहर दिया गया था। दूसरे दिन धूम-धाम से उसका शव निकाला गया और उस पर अशर्फियाँ लुटाई गईं।

यह एक उदाहरण है, परन्तु हमारे पास एक से एक बढ़ कर हजारों उदाहरण हैं। इन बालिकाओं में न तो प्रतिकार का ज्ञान है, न शक्ति। वे चुपचाप इस अत्याचार का शिकार बन जाती हैं। और इसका परिणाम हिन्दू जाति का सामूहिक नैतिक पतन होता है। ऐसी लड़कियाँ बहुधा नीच जाति वालों या मुसलमान बदमाशों के साथ भाग जाती हैं जो इस प्रकार के मामलों की ताक में रहते हैं।

मैं ऐसी अनेक छोटी छोटी रियासतों की रानियों को जानता हूँ कि जिन्हें उनके लम्पट रईस पतियों ने बुढ़ापे में व्याहा और जवानी में छोड़ मरे, और वे खुली व्यभिचारिणी और स्वेच्छा-चारिणी की भांति विचरण करती हैं। एक बार एक युवक ने हमें बीस हज़ार रुपये भेंट करने चाहे थे यदि मैं उसकी माता को जो उस समय मेरी चिकित्सामें थी, विष देकर मार डालता। उसका कारण यह था कि वह युवक के मृत पिता की चौथी स्त्री थी। एक रियासत में हमारे पुराने परिचित एक मित्र महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी थे, जो उनके मरने पर महारानी के भी प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। कुछ दिन पूर्व हमें दैवयोग से उस स्टेट में जाने का अवसर हुआ। तब युवक राजकुमार अधिकार सम्पन्न हुए थे। चर्चा चलने पर उन्होंने क्रोध रोकने में असमर्थ हो कर कहा, यदि वह सूअर यहाँ आयगा तो मैं अपने हाथ से उसे गोली मार दूँगा।

वृद्ध विवाह संसार के सभी देशों में होता है, परन्तु बराबर की स्त्रियों के साथ। पोती के समान बालिकाओं को इस प्रकार संसार की कोई भी सभ्य जाति क़ुर्बान नहीं करती।

इस कुप्रथा के कारण अनेक बूढ़े खूसट धन के लालच में गुणवती कन्यायें पा जाते हैं, और बेचारे दरिद्र युवक रह जाते हैं।

एक कामुक ने सत्तर वर्ष की आयु में विवाह करने की इच्छा प्रकट की। और जब हमने उससे उसका कारण पूछा तो कहा—हमारे मरने पर रोने वाला भी तो कोई चाहिये। इस पतित रईस

की बातें सुन कर मिश्र के पुराने राजाओं का हमें स्मरण हो आया जो अपनी समाधियों में जीवित स्त्रियों को दफ़नाया करते थे।

बाल पत्नियों के भयानक कष्टों को हमें देखने से बहुत अवसर मिले हैं। इस कुप्रथा से हमारा बहुत कुछ शारीरिक और मानसिक ह्रास हो रहा है। जो बड़ी उम्र के लोग अपना दूसरा और तीसरा व्याह करते हैं, उनकी पत्नियों की बड़ी दुर्दशा होती है। वे प्रायः पति संसर्ग से भागा करती हैं, और अन्त में उनके साथ जो व्यवहार किया जाता है उसे बलात्कार के सिवा कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

एक चालीस वर्ष के पुरुष ने ग्यारह वर्ष की बालिका से शादी की थी। कुछ दिन बाद ही उसके गर्भ रह गया। उसका आपरेशन करके बच्चा निकाला गया और वह लड़की सदा के लिये अपंग हो गई।

हाल में बंगाल के अन्तर्गत नोआखाली नामक स्थान से एक ऐसा लोमहर्षक समाचार आया है जिस ने रात-दिन घटित होनेवाली पैशाचिक घटनाओं से अभ्यस्त जनता को भी चकित कर दिया है। वहां की अदालत में कमला नाम की चौदह वर्ष की लड़की ने अपनी करुण कहानी सुनाई है। लड़की का कहना है कि तीन-चार वर्ष पहिले हरिपद विश्वास नामक एक व्यक्ति के साथ उसका विवाह हुआ था। वह ससुराल ही में रहती थी। उसके पति के चार भाई और थे। वे सब 'अविवाहित' थे। एक साल पहिले की बात है कि उसकी सास ने उससे उसके देवर ननीपद

के साथ अवैध सहवास करने के लिये कहा। उसने स्वीकार नहीं किया। उसने बहुत हठ किया पर वह न मानी। इसका फल यह हुआ कि सास-ससुर ने उसे मारना शुरू कर दिया! पाशविक व्यवहार की भी कोई सीमा होती है! कुछ भी हो, लड़की ने जब अपने पति से ये सब बातें कहीं तो वह क्रुद्ध हो अपने माता-पिता का साथ छोड़ कर किसी दूसरे मकान में चला गया। पर फिर वापिस आकर उसके पति ने भी अपने माता-पिता की बात का समर्थन किया। तब से उसके पति, सास, ससुर तथा देवर सबने मिल कर उसके ऊपर अत्याचार शुरू कर दिया। उसके हाथ-पांव बाँध कर वे लोग उसे कांटेदार लकड़ी से पीटा करते थे; कभी-कभी पीठ पर छुरी से भी मारते थे; कभी घर की छत से उसे नीचे लटकाकर उसके मुंह में कपड़ा ठूंस दिया जाता था, ताकि रो न सके। एक दिन उसके देवर ननीपदके कहने पर उसकी सास ने पिसी हुई मिर्च बलपूर्वक उसके गुप्त अंग के भीतर डाल दी। असह्य वेदना से वह छटपटाने लगी। लगातार तीन दिन तक उसे खाने को नहीं दिया गया। सास-ससुर जिस कमरे में सोते थे, ननीपद भी उसी में सोता था। लड़की स्वयं दूसरे बिस्तर में सोती थी, ननी ने बल-पूर्वक उसका सतीत्व नष्ट करना चाहा। इस समय उसकी आत्महत्या करने की इच्छा हुई। जब वे लोग उसे पीटते तो वह रोती। उसका रोना सुनकर पड़ोस के सम्भ्रांत लोग आते; वे लोग उन्हें गालियां देकर निकाल देते। उसे केवल एक जून भात खाने को मिलता था; दाल तरकारी वग़ैरा कुछ नहीं दिया जाता था। सरसों के कच्चे तेल के साथ वह भात खाती।

एक दिन उसका देवर ननी लगातार कई घण्टों तक उसे पीटने के बाद उससे मुंह के भीतर कपड़ा ठूंस कर उसे पकड़ कर उसके बाप के मकान में डाल गया और भाग कर चला गया। इसके पहिले एक दिन उसकी सास तथा देवर ने खिड़की में लगी हुई लोहे की छड़ के साथ एक रस्सी से उसका गला, हाथ और पांव कस कर बांध दिये। उसने अदालत को रस्सी के दाग़ दिखाये। लड़की ने अदालत में यह भी कहा कि दूसरे देवर भी उसे बीच-बीच में तंग किया करते थे। घर का सब काम उसी को करना पड़ता था। सास उसे किसी काम में बिलकुल सहायता नहीं देती थी। उसके ससुर का चरित्र अच्छा नहीं था, अक्सर रात को कुलटा स्त्रियाँ उसके पास आती थीं। उसने कहा कि जवानी में उसकी सास का चरित्र भी अच्छा नहीं था—ऐसा उसने सुना है।

सर हरीसिंह गौड़ के सहवास बिल पर अब तक बड़ी भारी दिलचस्पी ली जाती रही है। इस क़ानून के अनुसार पति १६ वर्ष से कम आयु की विवाहिता पत्नी से भी सहवास न कर सकेगा। यदि ऋतुमती होने के बाद ही कम उम्र में लड़कियों के साथ सम्भोग किया जायगा तो उनकी सन्तान अवश्य ही कमज़ोर होगी। पर सनातनधर्मी ब्राह्मणों को कमज़ोर सन्तान उत्पन्न करने से कुछ हानि नहीं। उनकी सन्तान तो जन्मश्रेष्ठ ही ठहरी, इसलिये वे ऋतुकाल से पूर्व ही किसी सद्वंश की कन्या का पाणिग्रहण करके अपना और दस पूर्वजों तथा दस आगामी वंशजों का, इस प्रकार इक्कीस पीढ़ी का उद्धार कर डालना चाहते हैं।

पाराशर स्मृति के सातवें अध्याय में लिखा है कि लड़की के जो माता पिता या बड़े भाई बारह साल की आयु से प्रथम उसका विवाह नहीं कर देते वे नर्क को जाते हैं। जो ब्राह्मण इससे बड़ी आयु की कन्या से विवाह करे उसे जाति से बाहर निकाल देना चाहिये और इस काम के लिये उसे यह प्रायश्चित करना चाहिये कि वह तीन वर्ष तक भीख मांग कर जीवन निर्वाह करे।

विचारने की बात तो यह है कि मर्द ४० या ५० वर्ष की आयु का होने पर भी दस बारह साल की लड़की से शादी कर लेता है पर शास्त्रों को इस पर एतराज़ नहीं। केवल लड़कियों का विवाह ऋतुमती होने से पूर्व हो जाना चाहिये और यदि उनका पति मर जाय तो उन्हें जीवन भर विधवा बन कर बैठे रहना चाहिए।

ये पतित हिन्दू इस कल्पित नर्क से भय खाकर अपनी पुत्रियों का तो सर्वनाश करते हैं, पर बेजोड़ विवाह के गुनाह पर जरा भी इनके पापिष्ट कलेजे नहीं थर्राते। बहुपत्नी की प्रथा रईसों में ही नहीं, सर्वसाधारण में भी देखने में बहुधा आती है। सर्व-साधारण में एक पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह करना बहुधा इस आधार पर किया जाता है कि प्रथम पत्नी से सन्तान नहीं हुई। पर ये धूर्त स्वार्थी क्या इस बात की परीक्षा भी करते हैं कि दोष उनमें है या उनकी स्त्रियों में ?

राजा और रईसों के घरों में बहुपत्नी की प्रथा उनके लिये शान की बात है। हमें बहुत से बड़े घरों के हालात मालूम हैं जहां प्रति वर्ष दो चार खून या गुप्त हत्यायें केवल स्त्रियों के कारण ही होती हैं। कुछ दिन पूर्व एक बड़े राजा की चिट्ठियाँ

छापी गई थीं जिसने ज़बरदस्ती एक रईस की स्त्री को हथिया लिया था और कुछ रुपये दे कर उसका सर्वाधिकार प्राप्त करना चाहा था। इसमें महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि ब्रिटिश सरकार के एक उच्चाधिकारी ने इस सौदे को पटाने में हाथ बटाया था।

इन राजाओं और रईसों के घरों में कैसे पातक होते हैं और कैसी कैसी वीभत्स घटनाएें होती हैं इस पर अब तो बहुत कुछ प्रकाश पड़ गया है। परन्तु जब तक पत्नी के लिये ऐसे पतित पति की आज्ञायें मानना और सौत के आधीन होना धर्म की बात समझी जाती है तब तक इस कुकर्म से स्त्री जाति को छुटकारा नहीं मिल सकता।

अनमेल विवाह एक पाप है—परन्तु हिन्दू समाज में वह एक ऐसे धर्मबन्धन में है कि जैसी भी अनमेल स्थिति में स्त्री पुरुष हों उनका धर्म है कि वे उसमें सन्तुष्ट हों। इस अनमेल विवाह के सबब से लड़कियों को बहुत से कष्ट उठाने पड़ते हैं। जिसके फल स्वरूप गर्भाशय और जननेद्रिय सम्बन्धी रोगों से भारत की प्रायः प्रत्येक स्त्री दुखी है।

विधवाओं से देश के कुछ भाग में ऐसा अत्याचारपूर्ण व्यवहार किया जाता है कि देखते छाती फटती है। स्त्री शिक्षा की दशा असन्तोषजनक होने से उनकी हालत और भी दुःख-दाई हो जाती है। यद्यपि लड़कियों को पढ़ाना पाप समझने वाले अब बहुत कम रह गये हैं, फिर भी उनको शिक्षा देकर उन्हें स्वावलम्बी होने की योग्यता प्राप्त कराने वाले माता पिता उङ्ग-

लियों पर गिनने योग्य हैं। इसलिए अधिकतर स्त्रियाँ अज्ञान में फंसी हैं और यही उनके कष्टों का एक भारी कारण है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि इन सब कुप्रथाओं का कारण हमारी राजनैतिक पराधीनता और आर्थिक दरिद्रता है। यद्यपि यह कथन सम्पूर्णतया सत्य नहीं, फिर भी कुछ अंशों तक तो इसमें सत्य है ही। परन्तु असल बात तो यह है कि हमारी कु-प्रथाओं की परम्परागत संस्कृति और उन्हें क़ायम रखने की हमारी खोटी प्रवृत्ति ही हमारी राजनैतिक और आर्थिक दरिद्रता का असली कारण है। 'लकीर का फकीर' होना, रूढ़ियों का गुलाम होना हमारा स्वभाव है, और इसी कारण हम साहसपूर्वक उन घृणास्पद और निकम्मी प्रथाओं को मानते रहे हैं जिनमें कुछ भी सार नहीं है। उन नई प्रथाओं को हम स्वीकार नहीं कर सकते जो हमारी उन्नति और रक्षा के लिए बहुत जरूरी हैं।

सती होना हिन्दू समाज में किसी ज़माने में उच्च कोटि का हिन्दूधर्म समझा जाता था। शताब्दियों तक स्त्रियां ज़बर-दस्ती सती होती रहीं जिनके वर्णन ही अत्यन्त रोमांचकारी हैं। हिन्दू विधवा का जीवन कैसा रोमांचकारी, व्यथापूर्ण, कष्टों का समुद्र और शुष्क है यह प्रत्येक हिन्दू के विचारने के योग्य है। यहां हम एक अभागिनी विधवा का जो समाचार पत्रों में सती कह कर प्रसिद्ध की गई थी थोड़ा सा संक्षिप्त हाल लिखते हैं।

दो वर्ष की आयु में एक धनी घर में उसकी सगाई हुई और ८ वर्ष की आयु में वह विधवा हो गई। इसके बाद वह संयुक्त परिवार के १७ स्त्री पुरुषों के बीच में रहने लगी। वह शीघ्र ही

उन सबकी गालियां और तिरस्कार एवं मारपीट की अधिकारिणी हो गई। सब से अधिक अत्याचार उस पर सास और विधवा ननद का था। उसने बड़े कष्ट से ६ साल काटे। उसके ऊपर यौवन और संसार का सब से बड़ा संकट उसके सन्मुख आया। उसके ज्येष्ठ की कुदृष्टि उस पर पड़ी। वह नीच और लम्पट आदमी था। उसके भाव को ताड़ कर वह अभागिनी भयभीत रहने लगी, और अन्त में उसने कुए में डूब मरने का इरादा कर लिया। इस इरादे को जान कर उसकी सास ने उसे क्रोध से पकड़ कर उसका हाथ उबलते हुए चावलों में डाल दिया और कहा— अब समझ कि मरना कैसा है! अभागिनी स्त्री उस पीड़ा को सह गई और बराबर काम करती रही। अन्त में न जाने कहाँ से उसने कुछ प्राचीन सतियों के कुछ वर्णन सुने और उसे सती होने की धुन सवार होगई। एक प्रकार के उन्माद में ग्रसित होकर उसने अपने सती होने की इच्छा बलपूर्वक सब पर प्रकट कर दी।

यह जान कर उसकी सास ने प्रसन्न होकर कहा—"तू धन्य है, जा मेरे पुत्र को सुखी कर।" उसके लिए व्याह के वस्त्र मंगवाये गये और खूब गहने पहनाये गये। गांव भर में चर्चा फैल गई उसे गा बजा कर जंगल में ले गये। उसी के पाथे हुये उपलों से चिता चुनी गई और उसे सुला दिया गया। उसका एक हाथ और सिर छोड़ सारा शरीर ढाँप दिया गया था। हाथमें फूंस का पूला दे उसमें आग लगा दी। क्रिया कर्म करने वाले पण्डित ज़ोर ज़ोर से मन्त्र पढ़ने और घी डालने लगे। जोर के बाजे

बजने लगे और जय जयकार होने लगा। धुएं का तूमार उठ खड़ा हुआ, इस प्रकार वह अभागिनी जल कर खाक होगई और सती कहलाई। पीछे पुलिस ने बहुत से लोगों का चालान किया।

श्रीमती डा० मुथ्युलक्ष्मी रेड्डी ने एक बार मदरास व्यवस्थापिका सभामें कहा था—"हिन्दू क़ानून के अनुसार एक साथ कई स्त्रियों से विवाह किया जा सकता है इसलिए जब पति लड़की को अपने घर बुलाना चाहे उसके माता पिता हरगिज़ इनकार नहीं कर सकते क्योंकि सदैव ही इस बात का भय बना रहता है कि लड़के की दूसरी शादी कर दी जायगी।"

शारदा विवाह बिल के विरोध कुम्भकोनम के स्वीङ्गल मठ के जगतगुरु शंकराचार्य ने घोषणा की थी कि यह बिल हिन्दू धर्म के उन पवित्र सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है जिन्हें सनातनी ब्राह्मण बहुत प्राचीन काल से मानते चले आये हैं। पवित्र सिद्धान्तों में इस तरह का हस्तक्षेप हम किसी कारण से भी सहन न कर सकेंगे।

अब यद्यपि सती की प्रथा क़ानूनन उठा दी गयी है पर अदालतों के सामने हर साल ग़ैरक़ानूनी सती का एक न एक मुक़दमा आता ही रहता है। प्रायः बहुत सी विधवायें जीवन के कष्टों से ऊब कर वस्त्रों पर मिट्टी का तेल डाल कर जल मरती हैं। खास कर बंगाली अखबार उन सब को सती का रूप देते हैं और खूब रंग कर उनका वर्णन छापा करते हैं।

कुछ दिन पूर्व बनारस में अखिल भारतवर्षीय ब्राह्मण कान्फ्रेंस हुई थी जिसमें भारत के सब भागों के तीन हज़ार शास्त्री

एकत्र हुए थे। उसमें गहन संस्कृत भाषा में सत्रह प्रस्ताव पास हुए जिनमें एक यह भी था कि लड़कियों का विवाह आठ साल की आयु में कर दिया जाय। अधिक से अधिक नौ या दस साल तक, अर्थात् ऋतुमती होने से पूर्व तक।

पर्दा हिन्दू समाज पर एक अभिशाप है। जिसे दूर होने में अभी न जाने कितनी देर है। हमने स्त्रियों को सब तरह से असहाय कर रक्खा है।

बड़े घरों में हमें जाने का बहुधा अवसर मिलता रहता है। एक प्रतिष्ठित जमींदार के घर का हाल सुनिये।

मकान की दूसरी मञ्जिल पर एक कमरा लगभग १२—९ फ़ीट है। तीन तरफ सपाट दीवारें और सिर्फ एक तरफ़ एक दरवाजा है जो कि एक लम्बी गेलरी में है। कमरे में सदैव ही अन्धकार रहता है। इसमें एक पुरानी दरी का फ़र्श पड़ा है जो शायद साल में एकाध बार ही झाड़ा जाता है। दीवारें काली हो गई हैं, और उसमें सदैव ही दुर्गन्ध भरी रहती है। घर भर की स्त्रियाँ इसी में दिन भर बैठी रहती हैं, और भाँति भाँति की बातें करती हैं। घर की बूढ़ी गृहणी वहीं पीढ़ी पर बैठती है, उसे घेर कर तीन बेटों की स्त्रियां, दो विधवा बेटियां, कई चचेरे भाइयों भतीजों की स्त्रियां, एक दो दासियां सब वहीं भरी रहती हैं। कुछ तम्बाकू खाती हैं, वे फ़र्श पर योंही थूकती रहती हैं। १५-२० बच्चे बे-तरतीबी से योंही खेलते कूदते फिरा करते हैं। कभी रोते, कभी मचलते, कभी शोर मचाते और कभी ठूंस ठूंस कर खाते और वहीं सो रहते हैं।

ये स्त्रियां दिन भर कुछ काम नहीं करतीं। उनका ख़ास काम पतियों की आज्ञा पालन करना या सोना है। वे सब घर में ठाकुर पूजा करती हैं, भोजन के समय पति को खिला कर खाती हैं। कभी पति से बोलती नहीं, उसके सामने आती नहीं, दिनभर पान कचरती, मिठाइयां खाती या सोती रहती हैं। उनकी बातचीत का विषय गहना, कपड़ा, बच्चों की बीमारियां, बच्चे पैदा होने की तरकीबें, गंडे, तावीज़, जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, साधु, पति को वश में करने की तरकीबें, एक दूसरे की निन्दा, कलह यही उनकी नित्यचर्या है।

वे प्रायः सब अपढ़ हैं। एक पढ़ी लिखी बहू है, उसकी उन सब के बीच में आफ़त है। बुढ़िया सब को हुक्म के तावे रखना चाहती है, और पढ़ना लिखना भ्रष्टता का लक्षण समझती है।

सब स्त्रियां प्रायः रोगिणी हैं। दो बहुएं क्षय से मर गई हैं। एक की प्रसूति में मृत्यु हुई है। जब वृद्धा से कहा गया कि आप लोगों को धूप और खुली हवा में रहना चाहिए और परिश्रम करना चाहिये, तब वृद्धा ने कुछ नाराज़ी के स्वर में कहा—खुली हवा, धूप और परिश्रम नीच जाति की स्त्रियां करती हैं या भले घर की बहू बेटियाँ?

जिस स्त्री को खाँसी और ज्वर है उसके दोनों फेफड़े क्षय रोग से आक्रान्त हैं। पर वह अपने बच्चेको दूध बराबर पिलाती है। बच्चा भी अत्यन्त कमज़ोर है, वह रात भर रोया करता है। वह स्त्री अपना कष्ट भूल उसे रात भर गोद में लेकर हिलाती रहती है।

स्त्रियां और वच्चे इस घर में वरावर मरते रहते हैं पर और नये पैदा होते ही रहते हैं। यह सिलसिला वरावर जारी रहता है।

वे स्त्रियां इस गन्दे अन्धेरे घर में प्रसन्न हैं। उन्हें पतियों के प्रति शिकायत नहीं। वे खुली हवा में घूमना अधर्म समझती हैं, पति के साथ घूमना या वातें करना तो वे एक दम पाप की वात समझती हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल में जव मनुष्य जाति आज की तरह सभ्य नहीं हुई थी और वस्त्रों का निर्माण नहीं हुआ था तव मनुष्य पशुओं की तरह नङ्गे रहते थे। शुभ्र आकाश के नीचे प्रकृति देवी की गोद में वस्त्र रहित विचरण करना और फल मूल खाना उस काल के स्त्री पुरुषों का स्वाभाविक जीवन था। धीरे धीरे मनुष्यों के हृदयों में भावुकता उत्पन्न होने लगी और शरीर को सजाने तथा कृत्रिम रीति से रंगने की रीति चली। उन्होंने रङ्ग-विरङ्गी मिट्टीसे शरीर को रंगना शुरू किया। वादमें उन्होंने गोदने गुदवा कर शरीर पर स्थायी रङ्गीन चिन्ह अङ्कित करने भी सीख लिये।

इस के वाद उन्होंने यह पसन्द किया कि केवल रङ्ग लगाने की अपेक्षा पत्तियों, वृक्षों की छालों पशुचर्मों से शरीर को जहाँ तहाँ से ढक लिया जाय जिस से चाहे जव ये आवरण उतार दिये जायँ और चाहे जव वदल लिये जायँ। इस समय तक गुप्ताङ्ग की तरफ़ किसी का ध्यान न था। पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः टाँग, सिर एवं गर्दन को विविध वस्तु लपेट कर ढकते और सजाते

थे। गुप्ताङ्गों को प्रायः खुला छोड़ देते थे। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने देखा कि शरीर में उपस्थेन्द्रिय अधिक कोमल है और उसकी रक्षा की ख़ास तौर से आवश्यकता है। इस के सिवा मल-मूत्र विसर्जित करना भी एक ऐसी आवश्यकता थी जिसे मनुष्य विचारशील होने के कारण एकान्तमें करना उचित समझने लगे। सर्वत्र मल-मूत्र विसर्जन करने से घृणा उत्पन्न होने का भय था। फिर उन अंगों को शुद्ध करना भी आवश्यक था। इन सभी बातों के कारण इन अंगों को गुप्त रखने ढकने आदि की तरफ़ मनुष्य समाज का ध्यान बढ़ चला।

लज्जा अब तक उत्पन्न नहीं हुई थी, पर यह बात अनुभव से देखी गई कि इन अवयवों को यत्न से ढकने पर काम के वेग को उत्तेजना मिलती है। इस अनैसर्गिक उत्तेजना के प्रादुर्भाव ने स्त्री पुरुषों में गुप्तांगों को यत्नपूर्वक ढकने की रीति के साथ ही लज्जा का भी समावेश कर दिया। इन के बाद ही वस्त्रों की कड़ी आवश्यकता ने वस्त्रों का आविष्कार कर दिया और मनुष्य जाति सभ्यता के युग में एक क़दम आगे बढ़ी।

सभ्यता के इस प्रथम चरण काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से श्रेष्ठ था, तथा शारीरिक बल में वे पुरुषों के समान थीं। आज भी ब्रिटिश कोलम्बिया के आदिम निवासियों की स्त्रियां पुरुषों के समान ही शिकारिणी होती हैं। तसमानिया में मछली पकड़ने और ऊँचे ऊँचे दरख़्तों पर चढ़ने में पुरुष स्त्रियों का मुकाबला नहीं कर सकते। प्रायः पृथ्वी भर में प्राचीन जातियों की स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर युद्ध में लड़ी हैं। काङ्गो प्रदेश की

जङ्गली जाति की स्त्रियां पुरुषों के समान ही मजबूत होती हैं, और उतना ही बोझा ढो सकती हैं। उत्तर अमेरिका और न्यूगाइना की असभ्य जाति की स्त्रियां आज भी दो पुरुषों के बराबर काम करने की शक्ति रखतीं हैं। अरब, कुर्दिस्तान और रूस की अर्द्धसभ्य जातियों की स्त्रियां पुरुषों के बराबर क़दावर और पूरी सामर्थ्यवान् होती हैं।

यह हुई शरीर सम्पत्ति की समानता की बात। अब उपयोगिता को लीजिये। उपयोगिता की दृष्टि से प्राचीन काल में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां बढ़ी चढ़ी थीं। पुरुष केवल शिकार मारने, मछली पकड़ने एवं युद्ध करने के उपयोगी थे परन्तु स्त्रियां सभ्यता के सभी आवश्यक पदार्थों की जो आगे चल कर उद्योग धन्धे और व्यापार के विशाल रूप में परिवर्तित हुये, एक मात्र अभिभावक थीं। मकान बनाना, चटाई बनाना, चमड़े के वस्त्र तैयार करना, भोजन पकाना, खेती करना, नाव बनाना, सूत कातना, कपड़े बुनना और बर्तन बनाना आदि सारे ही धन्धे उस युग में स्त्रियों को करने पड़ते थे, धीरे धीरे स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक चतुर, सहिष्णु और कर्मठ होने के कारण युद्ध और आखेट से हट कर अपनी पूर्ण शक्ति से उपरोक्त कला कौशल में लग गईं। कला कौशल पर उनका पूर्ण प्रभुत्व हो गया। चूंकि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रिय थीं इस कारण वे धीरे धीरे घरेलू होती गईं मानवीय सभ्यताने इसप्रकार दूसरे युग में प्रवेश किया।

परन्तु कृषि और कला कौशल ने मनुष्य समाज को स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने को विवश किया। उन्होंने घर बनाये

धीरे धीरे घर अधिकाधिक पक्के स्थायी और विशाल होते गये और चूंकि एक जगह बैठकर विविध कारीगरीकी वस्तुयें बनाना स्त्रियों का कार्य था, वे घरों में अधिक देर तक स्थिर रहने लगीं। पुरुष अब भी शिकार और युद्ध के उपयोगी थे। इस लिये वे भ्रमण-शील बने रहे फलतः स्त्रियाँ पुरुषों से शरीर सम्पत्तिमें दुर्बल और कोमल बनती गईं साहसके कार्यों की कमीसे वे नाजुक होने लगीं।

मातृत्व अर्थात प्रसव की स्वाभाविक विशेषता ने उन्हें और भी कमजोर बना दिया। इस प्रकार स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा धीरे धीरे कमजोर और घरेलू बनने लगीं, इस युग में बराबर युद्ध होते थे और अब वे केवल पुरुषों के हाथ में ही रह गये थे। इस प्रकार पुरुष स्त्रियों के रक्षक बन गये, स्त्री और पुरुष अब दो भिन्न भिन्न धाराओं में थे, घर और बच्चों की सम्भाल स्त्रियों पर ही थी। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी स्त्रीको ही प्राप्त था। इससे वे और भी घरेलू बन गईं, यह सभ्यता का तीसरा युग था।

अब विस्तृत समाज का विस्तार हुआ। नगर बनने और बसने लगे। युद्धों की अपेक्षा नागरिक जीवन अधिक पसन्द किया जाने लगा, पुरुषों ने राष्ट्रों का निर्माण किया। उद्योग धन्धों ने व्या-पार से मिल कर उसमें नया चमत्कार पैदा कर दिया। धीरे धीरे साधारण युद्ध बन्द हुए, पर पुरुष जो बलवान और उद्दण्ड बन गये थे और स्त्रियां जो परिश्रमी और सहिष्णु बन गई थीं, तथा शरीर सम्पत्ति खो चुकी थीं उनका परस्पर का सम्बन्ध असमान होगया पुरुष स्त्रियों का स्वामी बन गया; और स्त्रियाँ अपने सौजन्य और स्वभाव की मृदुता के कारण पुरुषों के आधीन हो गईं।

स्त्रियों का अब एक यह काम भी प्रधान हो गया कि वे पुरुषों को अधिक आराम दें। अब पुरुषों से स्त्रियों का स्थिर सम्बन्ध होना भी आवश्यक हो गया और विवाह सूत्र की रचना हुई तब स्त्री पत्नी, और पुरुष पति बना, पति-पत्नी का नैतिक सम्बन्ध बहुत काल तक ऐसा रहा जिसमें स्त्रियों को सम्मानयुक्त अधिकार और मनुष्योचित एवं नागरिक स्वातन्त्र्य प्राप्त था। यह सभ्यता का चौथा युग था।

परन्तु प्रभुत्व मिट्टी का भी बुरा होता है। पुरुष के प्रभुत्व के आगे स्त्रियों का सिर झुका कि झुकता ही चला गया। उनके जीवन क्रम ने उनकी शारीरिक और मानसिक विकास शक्ति को दबा दिया अन्ततः स्त्रियाँ पुरुषों की सम्पत्ति बन गईं। ऐसी दशा में वे अधिक सावधानी से रक्खी जाने लगीं। एक, एक पुरुष अनेक स्त्रियों का स्वामी बन गया। वह उन्हें बेच सकता, गिरवी रख सकता था। जुए में दाव पर लगा सकता, एवं मरने पर उन्हें जीवित अपने साथ चिता पर जला सकता, क़ब्र में गाड़ सकता था। यह भयानक एकाधिपत्य स्त्री माता, पुत्र, परिजन आदि में फट पड़ा, सर्वत्र स्त्रियां भयानक रूप से पुरुषों की ऐसी सम्पत्ति बन गईं जिनका कोई स्वतन्त्र जीवन ही न था। सम्पत्ति और पुत्रियों का पति के घर जाना इन दो विषम घटनाओं ने स्त्रियों की तरफ़ से पुरुषों को और भी सतर्क कर दिया और उनके अधिकार बड़ी कड़ाई और दूरदर्शिता से संकुचित किये जाने लगे। जब स्त्रियों की ऐसी पतित दशा होगई तो उनका सम्मान भी जाता रहा। वे एक प्रकार से बिना उज्र आज्ञाकारिणी

दासियां बन गईं तब समाज ने उनका नैतिक तिरस्कार करना शुरू कर दिया। पुरुषों की आत्मिक उन्नति में स्त्रियां बाधक समझी जाने लगीं। पुरुष को पुण्य से खींच कर नरक में ले जाने वाली स्त्रियां समझी जाने लगीं।

बड़े बड़े नीतिकार और पण्डितों ने निर्लज्ज बन कर यहां तक कह डाला कि वे स्वभाव ही से अविश्वासिनी चरित्रहीन चचल और मूर्ख होती हैं, इन्हें सदा डण्डे के जोर से रखना चाहिये, ये कभी स्वतन्त्र न होने पावें। पृथ्वी भर की सभी जातियों ने तथा भारत, चीन, जापान, रोम, ईरान, यूनान ने स्त्रियों के विषय में एक ही राय गढ़ली कि उन्हें सदैव दबा रक्खो। जापान की संस्कृति में स्त्रियों के लिये कड़ा पहरा है। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को स्त्रियों का मुख तक देखने की आज्ञा नहीं दी थी। मनु महाराज उन्हें खूब कड़ाई से वश में रखने की सम्मति देते हैं। भगवान दत्तात्रेय तो उन्हें मदिरा ही बताते हैं, तुलसीदास जी कहते हैं उन्हें ढोल की तरह पीटना चाहिये। वे अन्धे, काने, कुबड़े, अपाहिज, कोढ़ी, कामी, लुच्चे, सभी प्रकार के पति को स्त्री का पूज्य बताते हैं। उनकी राय शरीफ में ऐसे बदमाश और योग्य पतियों का अपमान करने पर भी स्त्री नरक को जाती है।

मसीह कहते हैं—स्त्रियों को अपने आपको उसी प्रकार पुरुषों को समर्पण करना चाहिये, जैसे परमेश्वर को क्योंकि पुरुष स्त्री का स्वामी है। मुहम्मद साहब फर्माते हैं—स्त्रियां मूर्तिमती दुर्बलता हैं। शेक्सपियर कहता है—ओ, व्यभिचारिणी तेरा नाम ही स्त्री है। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहार कहता है—ऐसी

कोई बुराई नहीं जो स्त्रियां न कर सकती हों। महान और पूज्य पुरुषों के इन विधानों ने स्त्रियों के समस्त अधिकार छीन लिये, और स्त्रियों को दबा कर छिपा कर हर तरह सुरक्षित रखने की पूरी पूरी चेष्टा सब तरफ़ से की जाने लगी। यह सभ्यता का पाँचवो युग था।

मुंह ढकना या पर्दा, इन्हीं अन्याय पूर्ण बातों के आधार पर निर्माण हुआ। यद्यपि प्राचीन असभ्य जातियों में भी मुख ढकने के उदाहरण पाये जाते हैं। न्यूगाइना टापू की आदिम जातियों में रजस्वला होने के बाद से विवाह होने तक लड़कियों का मुख ताड़ की पत्तियों से ढक दिया जाता था, और सिवा निकट सम्बन्धियों के उनसे कोई नहीं मिल सकता था। क्रिमिया में रजस्वला पर्देमें रक्खी जाती थी, और स्त्रियों के सिवा उनके पास कोई नहीं जा सकता था। यही बात जापान, काकेशस, उत्तरीय अमेरिका की असभ्य जातियों में भी थी। आयुर्वेद में भी रजस्वला के लिये ऐसे ही कठोर आचरण लिखे हैं। हम नहीं जानते कि इन सब बातों का वैसा अद्भुत प्रभाव पड़ता है या नहीं, जैसा कि वहाँ लिखा है। परन्तु रजस्वला को अपने पति तक का मुँह देखने का निषेध आयुर्वेद में है।

वह अस्थायी पर्दा मालूम होता है। नवीन आवश्यकताओं ने उसे स्थायी बना दिया। एक रोमन लेखक का कहना है कि प्राचीन काल में यूनानी लोग स्त्रियों को पर्दे में रखते थे। उन्हें निमन्त्रण या मेलों में जाने का निषेध था और न वे अन्य पुरुषों से मिल सकती थीं। प्रसिद्ध रोमन विद्वान् प्लिनी, जो मसीह से

तेइस वर्ष बाद पैदा हुआ था, एक घटना का वर्णन करता है कि एथेन्स के नागरिकों का चरित्र भ्रष्ट करने के अपराध में एक सुन्दरी पर अदालतमें मुकदमा चलाया गया। जब उस पर विचार होने लगा तो उसके वकील ने हठात् उसके मुंह का पर्दा हटा दिया। उस समय असाधारण सौन्दर्य के कारण ही उसे निर्दोष मान लिया गया, और छोड़ दिया गया। मन्चूरिया मंगोलिया और चीन में स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं। कोरिया में यह रिवाज था कि रात्री में एक घण्टा बजता था, तब सब पुरुष घरों में घुस जाते थे, और स्त्रियाँ बाहर निकल आती थीं। दिन में यदि निकलना होता तो उन्हें एक बुर्क़ा पहनना पड़ता था। चीन और कोरिया में विवाह वेदी पर कन्या घूँघट निकाल कर आती थी।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि प्रतिष्ठित स्त्रियाँ उस काल में पर्दा करने लगी थीं। वे आम तौर से बाहर नहीं आती थीं। शकुन्तला भी घूंघट काढ़ कर दुष्यन्त के दरबार में गई थी। ये सारे प्रमाण ईसा के जन्म के लगभग भारत की पर्दा प्रथा को प्रकट करते हैं।

ईरान पहले अनेक सरदारों में विभक्त था। वे परस्पर लड़ते और एक दूसरे की सुन्दरी स्त्रियों को छीन कर उन्हें कड़े पहरे में क़िलों में रखते थे। धीरे धीरे ये क़िले हरम बन गये। ख़ोजों की उत्पत्ति भी ईरान से ही हुई है। यह बात मुहम्मद साहब के जन्म से पहले की है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ बुख़ारी का कहना है कि अरब में पर्दा न था उसका चलन चङ्गेज़ ख़ाँ ने चलाया जो मङ्गोल था, और बौद्ध मतवादी था। टर्की में भी मङ्गोलों के कारण पर्दा

चला। मङ्गोलों ने अरब, ईरान और स्पेन तक अपने राज्य क़ायम किये थे। मिश्र की स्त्रियां नाक के नीचे मुँह ढकती थीं और बातें सब से करती थीं। जापान और इङ्गलैण्ड में भी एक शताब्दी पूर्व तक स्त्रियों के पर्दे का ख्याल रक्खा जाता था। वेद का मत भारतीय दृष्टि से सब से बड़ा महत्व रखता है। वेद आर्यों के प्रारम्भिक उत्कर्ष का द्योतक है। ऋग्वेद से यह पता लगता है कि उस काल में आर्य पर्दा नहीं करते थे। विवाह-काल में वर-वधू स्वयम् वचन आबद्ध होते थे। विवाह पद्धति इस विषय की साक्षी है। पर भारत में पर्दा दो हज़ार वर्ष के लगभग से किसी न किसी रूप में रहा है, यह बात हम स्वीकार करते हैं। और यह बात भी हमें स्वीकार करनी पड़ेगी कि कवि ने अपनी भाषा में यदि किसी प्राचीन कथा का वर्णन किया है तो उसमें उसने अपने काल की सभ्यता का पुट तो अवश्य ही दिया है। जैसे कालिदास, शकुन्तला को घूँघट में छिपी हुई लिखता है, जिससे प्रकट होता है कि उस समय यहां पर पर्दा प्रथा का अस्तित्व था। उपनिषदों,रामायण और महाभारत में हमें इस बात के भी यथेष्ठ प्रमाण मिलते हैं कि यद्यपि स्त्रियां एक प्रकार से अन्तः वासिनी होती थीं, पर वे आज कल की तरह पिंजरे की अभागिनी वन्दिनी न थीं। ब्रह्मचारिणी गार्गी का याज्ञवल्क्य से सम्वाद, कैकयी का घोर युद्ध में जाना,सीता का वन गमन,विराट की भरी सभा में द्रोपदी का परिचय इसबात का द्योतक है। शङ्कराचार्य ने स्त्रियों से शास्त्रार्थ किया था। मेगस्थनीज़ ने भी स्त्रियों को युद्ध करते और खुले मुँह घूमते देखा था।

उपरोक्त सारी बातों पर विचार करने पर हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि स्त्रियों के प्रति तुच्छता के भाव उत्पन्न होने पर तथा पुरुषों के उन्हें अपनी सम्पत्ति समझने के कारण उनकी रक्षा के लिये जो जो उपाय करने पड़े, पर्दा उनमें से एक है। वर्त्तमान पर्दा काल में जैसे कि कुछ स्त्रियां बिना पर्दे के दीख पड़ती हैं प्राचीन काल में भी ऐसा ही हाल था।

परन्तु हमारे विचार का तो यह विषय ही नहीं। उपरोक्त विवरण हम ने सिर्फ इस लिये दिया है कि जिससे पाठकों को इस बात की कुछ धारणा हो जाय कि किस तरह स्त्रियों को इस अत्याचार के लिये राजी किया गया है। आज नौबत यहां तक आई है कि स्त्रियां स्वयं इस क़ैद और अपमान को त्यागने में सङ्कोच करती हैं।

आज पृथ्वी की उन जातियों ने पर्दा फाड़ फेंका है जिन्होंने इसे पृथ्वी पर प्रचारित किया था। पर्दे को फाड़ते ही तुर्कों की प्रचण्ड शक्ति उदय होगई है। मिश्र इस पर्दे के पाप से अपनी महिलाओं का उद्धार करके उन्हें नवीन जीवन दे रहा है, अफ़गा-निस्तान के साहसी राजा ने पीढ़ियों से पर्दे की अभ्यस्त महारानी को सारे यूरोप में स्वच्छन्द वायु लगने के लिये उन्मुक्त करके संसार को चकित कर दिया। और उस सिद्धान्त के लिये पैतृक सिंहासन को भी लात मार दी। चीन और कोरियाकी स्त्री समाज ने पर्दा चीर कर देश की स्वाधीनता के युद्ध में बराबरी का भाग लेना शुरू कर दिया है। सीरिया में सहस्रों वर्ष की पिछड़ी जातियों ने पर्दे की विनाशकारी कुप्रथा को कुचल डाला है, फिर

भारतवर्ष की माताओं पर यह ज़ुल्म कब तक ? बालिकाओं पर यह ज़ुल्म कब तक ? पत्नियों और बहिनों पर यह ज़ुल्म कब तक होता रहेगा !

ऐ, देश के बुद्धिमान पुरुषो ! यदि तुम देश की रक्षा करने वाले फौलादी बच्चों की नस्ल चाहते हो तो उन बच्चों की इन पर्दे की बेड़ियों में बंधी माताओं से आशा न करो। तुम्हारे बुजुर्गों ने नाहर के जैसी छाती और तप्त अंगारे जैसी आंखे, सूर्य के समान मुख, व्याघ्र के समान कमर और हाथी के जैसी चाल वाले बच्चे पैदा किये हैं। वैसे बच्चे तुम इन औरतों से पैदा किया चाहते हो; जिन्हें तुमने बम्बई कलकत्ते के घृणित अँधेरे गन्दे जेलखानों में जीवन भर के लिये बन्द कर रक्खा है ! पतली चपातियां तब हज़म कर सकती हैं जब डाक्टर का डेढ़ रुपये का नुसखा पीलें। अरे, तुम्हारे वंशनाश के लिये तो यह बाल विवाह ही काफ़ी था। इन बचपन में ज़बर्दस्ती पाल में पकाई हुई अभागिनी स्त्रियों की जिन्हें निर्दयता और मूर्खता से इन बड़े शहरों की जेल जैसी हवेलियों में बन्द कर दिया गया है, क्या आवश्यकता थी ? यह तो समस्त जाति के आत्मघात की तैयारियाँ हैं।

प्यारी माताओ और बहिनो ! ये मर्द कहते हैं कि तुम स्वयं पर्दे को छोड़ना नहीं चाहती हो, क्या यह सच है ? तुम किस अपराध में जन्म कैद भुगत रही हो ? किस पाप के बदले ज़बान रहते गूँगी बनी हो ? उठो, तुम देश के बच्चों की मां हो, देश कहता है कि तुम नाहर बच्चे पैदा करो, देश को नाहर बच्चों की

जरूरत है। तुम इस पर्दे को स्वयं चीर कर फेंक दो। और नवीन जीवन और नई शक्ति के रूप में हमारे सन्मुख प्रकट होओ।

बच्चों का पालन-कुसंस्कारों और रूढ़ियों के कारण ऐसा गर्हित हो गया है कि अपने जन्म के बाद पहले ही वर्ष में प्रत्येक तीन बच्चों में एक मर ही जाता है। भारतवर्ष के बच्चे पशुओं और कीड़ों से किसी भांति श्रेष्ठ नहीं समझे जाते। एक बार कृष्णमूर्ति ने एक व्याख्यान में कहा था :—

"भारतवर्ष में बच्चे किस भांति खुश रह सकते हैं। मैं तुम से अपने ही बचपन की तरफ़ ख़याल करने को कहता हूं, मैं नहीं कह सकता कि मेरा बचपन सुखपूर्ण था। मैं अपने माता पिता के विरुद्ध कुछ नहीं कहता। क्योंकि जो कुछ हुआ वह प्राचीन प्रथा के अनुसार चलने का फल था। भारतवर्ष में बच्चे जितनी बुरी हालत में रहते हैं, संसार के और किसी देश में वे वैसे नहीं रहते। भारतवर्ष में बच्चा सब से अभागा प्राणी है! न उसका कोई अलग स्थान है और न चित्त विनोद का कोई साधन। वह जब चाहता है सो जाता है। बच्चों की देख भाल का कोई ख़याल नहीं रखता। तुम और मैं इन बातों को भलि भांति जानते हैं। यह सच है कि जाहिर में बच्चों को बहुत प्यार किया जाता है। पर बच्चों के कल्याण के लिये उस प्यार में कोई नियम नहीं है।...... बच्चा गन्दगी कीचड़ और धूल में रह कर बड़ा होता है। मेरा हमेशा से यह विचार था कि मेरा फिर से भारत में जन्म हो, पर अब अगर मेरे लिये ऐसा अवसर आवे तो मैं

हिचकूंगा, क्योंकि अमेरिका और योरोप में बच्चे जैसे प्रसन्न रहते हैं उसका तुमको ख़याल भी नहीं है। बचपन ही वास्तव में आनन्दित रहने का समय है। क्योंकि बड़े होने पर हम उसको याद किया करते हैं। आजकल भारत में चारों तरफ़ जैसी निन्दनीय बातें फैली हुई हैं इनके बीच में रह कर बच्चा कैसे खुश रह सकता है?"

कन्याएं सन्तान रूप कलंक हैं; यह भावना हिन्दुओं की नीच प्रकृति की परिचायक है। राजपूत लोग घमण्ड से कहा करते हैं कि हम किसी को दामाद न बनावेंगे और इसीलिये वे जन्मते ही कन्याओं को मार डाला करते थे। और अब भी कुछ लोग ऐसा करते हैं। जाटों में भी ऐसी ही प्रथा प्रचलित है, और यह तो मानी हुई बात है कि लड़की पैदा होते ही घर वालों के मुँह लटक जाते हैं; मानो कोई बड़ा भारी अपशकुन हो गया हो। लड़कियां बहुधा घरों में अवज्ञा और अपमान में पला करती हैं। बहुतसी कन्याएं बालकाल में मर जाती हैं। बँगाल में अनेक कन्याएं दहेज की कुप्रथा के कारण जल मरी हैं। ऐसी हत्याओं की कथा ऐसी करुणापूर्ण है कि उन क्रूर कमीने माता पिताओं तथा जाति बन्धनों और कर्म बन्धनों के प्रति बिना तीव्र घृणा पैदा हुए नहीं रह सकती। प्रायः लड़कियों को प्यार के समय भी मरने की गाली दी जाती है, पर बेटे के लिये ऐसा कहना घोर पाप है।

पशुओं के पालन सम्बन्धी अज्ञान हमारा सामाजिक पाप है, बहुतसे उपयोगी पशुओं से तो हम कुछ लाभ उठा ही नहीं सकते।

भेड़ें, बकरियां, मुर्गे, मुर्गी आदि जानवरों को पालने की तो धर्म की ही आज्ञा नहीं। हम दूध के पशु पालते हैं, कुछ परिन्दों को पालते हैं तथा सवारी और खेती के पशुओं को पालते हैं, परन्तु इतने निकृष्ट ढंग से कि उसे महामूर्खता कहा जा सकता है।

प्राय: बछड़े और अधमरी गायें गली गली भटकती दीख पड़ती हैं। कहने को हम बड़े भारी गो भक्त हैं पर गोभक्ति की असलियत तो हमारी गोशालाओं की दशा को देखनेसे खुलजाती है। जैसा कष्ट पशु पक्षी हमारे घरों में पाते हैं वैसा कष्ट मांसाहारी लोग भी पशुओं को नहीं देते। किसी प्राणी को धीरे धीरे बहुत दिनों तक कष्ट देकर मार डालने की अपेक्षा एक दम खतम कर देना कम निर्दयता का काम है।

बहुधा गायों के बच्चे असावधानी से मर जाते हैं। और उन की खालों में भुस भरवा कर उनके सामने रखकर दूध दुहा जाता है। प्राय: बच्चो को कुत्ते फाड़ खाया करते हैं।

एक समय था कि साधारण गृहस्थियों के पास भी हज़ारा की संख्या में गायें रहती थीं। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व कालायन के काल में गौ १० पैसे को, और बछड़ा ४ पैसे को मिलता था। बैल की क़ीमत ६ पैसा थी, भैंस ८ पैसे में आती थी। और दूध १ पैसे में १ मन आता था, इसके २०० वर्ष बाद मसीह से ३०० वर्ष प्रथम जब भारत पर सम्राट चन्द्रगुप्त शासन करते थे घी १ पैसे का २ सेर और दूध २५ सेर मिलता था। ईसवी सन् के शुरू में ४८ पैसेकी गाय ९३ पैसे का बैल मिलता था। ५वीं शताब्दी में विक्रमादित्य के राज्य में गौ ८० पैसे में और बैल ५१२ पैसे में

मिलता था। अलाउद्दीन के ज़माने में घी का भाव दिल्ली में ७४ पैसे मन था और अकबर के जमाने में १९५ आने मन।

यह वह ज़माना था जब दूध बेचना पाप समझा जाता था। नगर बस्तियों के बाहर घने वन थे और उनमें गाय स्वच्छन्द चरा करती थीं। उन दिनों दीर्घायु निरोगी काया और दुर्धर्षबल शरीर में रहता था, आज वे दिन न रहे। आज हमारे दुधमुहे बच्चों को भी एक बूंद दूध मिलना दुर्लभ हो रहा है। आस्ट्रेलिया की आबादी ४ लाख है और गायें १२ करोड़। पर भारत के ३४ करोड़ नर नारियों में सिर्फ ४ करोड़। भारतमें प्रति वर्ष ४० लाख गाय बैल काटे जाते हैं। जिनमें केवल दो लाख भारतीय मुसलमानों के काम आते हैं। शेष ३८ लाख की खपत देश के बाहर होती है। इस हत्या से घी दूध ही नहीं अन्न की पैदावार भी कम हो रही है जङ्गल साफ़ हो रहे हैं जमीनोंके रक़बे बढ़ रहे हैं परन्तु मजबूत गाय बैलों की देश में बराबर कमी हो रही है।

भारत में क़रीब ८० हजार गोरे सिपाही हैं। जिनका मुख्य भोजन गो मांस है। यदि प्रत्येक पुरुष १॥ सेर मांस भी प्रति दिन खाय तो रोजाना ९४६ मन और साल भर में ३ लाख ४५ हजार २९० मन हुआ, इतना कितनी गौओं की हत्या से मिलेगा? फिर ७ करोड़ मुसलमान भी हैं, जो ज़िद या ग़रीबी के कारण बकरे का माँस जिसे हिन्दुओं ने मँहगा कर दिया है, न खाकर सस्ता गाय का मांस खाते हैं।

दर्जन भर सरकारी क़साई घरोंके अलावा देशमें साढ़ेतीन लाख क़साई हैं। यह जानकर रोमांच होता है; आज ऋषियों की पवित्र

भूमि पर २० करोड़ मांसाहारी मनुष्य रहते हैं इनमें से ७ करोड़ मुसलमान और १० लाख अँग्रेज निकाल दिये जायँ तो भी साढ़े आठ करोड़ हिन्दू बच जाते हैं।

इसके सिवा गत १० वर्षों में ३२ लाख जीते पशु काटे जाने के लिये पानी के रास्ते और १६ लाख से ऊपर खुश्की के रास्ते ईरान तिब्बत आदि को माँस के लिये भेजे गये हैं।

यह दया धर्म वाले हिन्दुओं के धर्म का नमूना है। जो लाखों रुपयों की सम्पत्ति रखने पर भी गायें पालना आवश्यक नहीं समझते।

पशुओं का घर वही स्थान होना चाहिए जो घर में बच्चोंका होता है। पशु पालना दया के ऊपर निर्भर नहीं, प्रेम के ऊपर रहना चाहिये। परन्तु हमारी पशु दया की रूढ़ि है, हम में त्याग नहीं।

अब हम छोटी-छोटी कुछ कुरीतियों का दिग्दर्शन करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

संस्कारों को ही लीजिये, उपनयन, कर्णवेध, मुण्डन, आदि सर्वत्र ही कुरीतियों का दौर दौरा है? एक नाटक-सा करके इन संस्कारो की रस्में पूरी की जाती हैं।

ग़मी होने पर विरादरी भोज एक विचित्र और घृणास्पद बात है। घर वालों के आँसू बह रहे हैं और पुरोहित और विरादरी तर माल उड़ा रहे हैं। पुरोहित की बन आतीहै, मृतात्मा की सद्गति के बहाने गोदान, शैयादान, न जाने क्या क्या दान करवाते हैं। श्राद्धों की धूमधाम विवाह से बढ़ जाती है। क्या मृत

व्यक्ति को ता है। गया में पिण्ड और तर्पण ... भाँति हलाल करते हैं; क्या कोई यह भी पूंछ सकता है कि इन सब दान धर्म का मृत व्यक्ति से क्या सम्बन्ध हो सकता है।
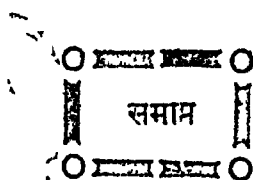
आवश्यक निवेदन

पूर्वार्द्ध आपके हाथ में है। उत्तरार्द्ध भी शीघ्र छपेगा। अभी से अपना आर्डर भेज दीजिये। जिससे पुस्तक छपते ही आपको तुरन्त मिल जावे।

प्रकाशक

उत्थान ग्रन्थमाला की प्रकाशित पुस्तकें

१—जीवन-पथ

अनुवादक-प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

यह इस माला की पहिली पुस्तक है। पुस्तक में उच्च-कोटि का हास्य है। परन्तु उस हास्य में बड़ा ही करुण-क्रन्दन निहित है। लेखक के शब्दों में इसे उपन्यास न कह कर जीवन का एक सीधा-सादा सुख-दुःख और हास्य-क्रन्दन से भरा हुआ एक सजीव-चित्र कहा जाय तो ज्यादा उपयुक्त होगा। बंगला में इसका बहुत मान है तथा इसके कई संस्करण हो चुके हैं। अनुवाद भी बहुत सुन्दर हुआ है। ३२ पौण्ड के मोटे एन्टिक कागज पर छपी २०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल ।।)

२—दीप-निर्वाण

अनुवादक—श्री० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। उपन्यास क्या, भारतवर्ष के दुर्भाग्य की करुण कहानी है जिसे पढ़ कर वेदना के दो आँसू बर-बस ढुलक पड़ते हैं। मुहम्मद गोरी ने जयचन्द की सहायता से दिल्ली पर चढ़ाई करके किस प्रकार पृथ्वीराज का अन्त किया और किस प्रकार दिल्ली के भाग्य का अस्त हुआ—ऐसी एक से एक बढ़ कर अद्भुत और विचित्र हृदय-द्रावक घटनायें इसमें अत्यन्त भाव-पूर्ण और मनोरंजक ढंग से वर्णन की गई हैं। बीच बीच में प्रेम के जो वर्णनात्मक स्थल आये वे बड़े मधुर और मनोरंजक हैं।

मिलने का पता—

हिन्दी-साहित्य-मण्डल,

बाज़ार सीताराम देहली।